पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

लेखक
दृ. हुकमचन्द भारिल्ल
शाखी, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच. डी.

प्रकाशक
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) 302015
फोन : (0141) 2707458, 2705581, फैक्स : 2704127
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com
हिंदी
प्रथम दस संस्करण : 59 हज़ार 300
(21 दिसम्बर, 1990 से अधितन)
ग्यारहवाँ संस्करण : 4 हज़ार
(14 नवम्बर, 2006)

योग : 63 हज़ार 300

मराठी
प्रथम दो संस्करण : 8 हज़ार
(1992 से अक्टूबर 1996)

गुजराती
प्रथम तीन संस्करण : 6 हज़ार
(15 मई 1991 से 30 मार्च 1996)

महायोग : 77 हज़ार 300

मूल्य : आठ रुपये

<table>
<thead>
<tr>
<th>विषय-सूची</th>
<th></th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>पहला दिन</td>
<td>01</td>
</tr>
<tr>
<td>दूसरा दिन</td>
<td>07</td>
</tr>
<tr>
<td>तीसरा दिन</td>
<td>15</td>
</tr>
<tr>
<td>चौथा दिन</td>
<td>24</td>
</tr>
<tr>
<td>पाँचवाँ दिन</td>
<td>33</td>
</tr>
<tr>
<td>छठवाँ दिन</td>
<td>44</td>
</tr>
<tr>
<td>सातवाँ दिन</td>
<td>64</td>
</tr>
<tr>
<td>आठवाँ दिन</td>
<td>82</td>
</tr>
</tbody>
</table>

मुद्रक :
प्रिंटर 'ओ' लेण्ड
बाईस गोदाम जयपुर (राज.)
प्रकाशकीय
(ग्यारहवाँ संस्करण)

डॉ. हुकमचन्द्रजी भारिल्लू की महत्त्वपूर्ण कृति ‘पंचकल्पयानक प्रतिष्ठा महोत्सव’ का हिंदी भाषा में यह ग्यारहवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए, हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसके गुरुराती एवं मराठी भाषा में भी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

सर्वप्रथम यह कृति इस्ती 1990-91 में वीपरण-विज्ञान के दिसंबर-जनवरी के संयुक्तांक में विशेषांक के रूप में 6 हजार 100 की संख्या में प्रकाशित हुई थी। साथ ही 21 दिसंबर, 1990 में 15 हजार 200 पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह कृति अब तक इस संस्करण को मिलाकर हिंदी में ग्यारह संस्करणों के रूप में 63 हजार 300 तथा मराठी में दो संस्करणों में 8 हजार और गुरुराती में तीन संस्करणों में 6 हजार – इसप्रकार सोलह वर्ष के काल में कुल मिलाकर 77 हजार 300 की संख्या में प्रकाशित हो चुकी है। इस कृति की लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा?

इस कृति के निर्माण की भी एक कहानी है। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से संबंधित विद्वानों द्वारा अब तक सताधक पंचकल्पयानक देश के विभिन्न भागों में आशातीत सफलता के साथ कार्य जा चुके हैं। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से जो भी पंचकल्पयानक कार्य करते हैं, उनमें डॉ. हुकमचन्द्रजी भारिल्लू निर्मित रूप से पताका न हैं और पंचकल्पयानकों के मुख्य आकर्षण भी पंचकल्पयानक प्रसंगों पर होनेवाले उनके व्यक्तित्व ही होते हैं। वे पंचकल्पयानक प्रसंगों को इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं, इसप्रकार समझाते हैं कि पंचकल्पयानकों का स्वरूप स्पष्ट होने के साथ-साथ आतावरण भी एकदम शान्त और वैराग्यमय हो जाता है।

पंचकल्पयानकों के संदर्भ में होनेवाले उनके व्यक्तित्वों के प्रकाशन की मांग लगातार बनी हुई थी; किन्तु समयभाव के कारण उनका व्यवस्थित लेखन नहीं हो पाया रहा था, बात ठीक ही जा रही थी; किन्तु श्री टोडरमल स्मारक भवन, बापूरम, जयपुर में नवनिर्मित त्रिमूर्ति ज्यानलय की प्रतिष्ठा के निमित्त से डॉ. भारिल्लू के ही निर्देशन में तथा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के तत्त्वाधान में 1990 के दिसंबर माह में पंचकल्पयानक प्रतिष्ठा महोत्सव कराने का निर्णय लिया गया तो ट्रस्ट द्वारा उनसे आयोजित प्रकाशित पुस्तक प्रकाशित होनी ही चाहिए। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति का निर्माण हुआ, जो आज
सभी पंचकल्याणकों के अवसर पर हजारों की संख्या में जन-जन तक पहुँचती है और इसकी मांग निरंतर बनी ही रहती है।

जिसप्रकार डॉ. भारिल्लु द्वारा लिखित ‘धर्म के दशालक्षण’ प्रत्येक पर्युत्तर में लगभग तीन हजार विकल्प बिकती है, उसीप्रकार यह भी प्रत्येक पंचकल्याणक में हजारों की संख्या में बिकती है।

डॉ. भारिल्लु उन प्रतिभाशाली विद्वानों में हैं, जो आज समाज में सर्वाधिक पढ़े एवं सुने जाते हैं। वे न केवल लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कुशल अध्यापक ही हैं; अपितु सिद्धहस्त लेखक, कुशल कथाकार, सफल समाजकार एवं आध्यात्मिक कवि भी हैं।

आपने ‘क्रमबद्धपर्याय’ एवं ‘परम्पराप्रकाशकर्ता’ जैसी गुदा दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करनेवाली क्रियाओं लिखीं, जिन्होंने आगम एवं अथात्म के गहन रहस्यों को सरल भाषा व सुंदर शैली में प्रस्तुत कर आध्यात्मिककत्तुरुष श्री कानविशवासी द्वारा व्याख्याित जिन-सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

यही कारण है कि स्वामीजी की उन पर कृपा रही है। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा करते थे, ‘पण्डित हुकमचंद का वर्तमान तत्त्वप्रचार में बड़ा हाथ है।’

उत्तरकंपाने द्वारा धर्मों का विशेषण जिस गहराई से आपने ‘धर्म के दशालक्षण’ पुस्तक में किया है, उसने जनसामाज एवं साथ-साथ विद्वानों का भी मन मोह लिया।

जिसे पढ़कर वयोवृद्ध ब्राह्मण विद्वान पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री कह उठे थे – ‘डॉ. भारिल्लु की लेखनी की सरस्वति का वरदान है।’

‘सत्य की खोज’, ‘तीर्थकर महावीर और उनका सच्चाई तिथं’, ‘मैं कौन हूँ’ और ‘पण्डित रोडरमल: व्यक्तित्व और कर्मचारी’ भी अपने-आप में अद्वृत क्रियाओं हैं।


आचार्य कुलकुलद्वितीय सहमताबादी समारोह के पावन प्रसंग पर प्रकाशित डॉ. भारिल्लु की नवीनतम क्रियाओं – ‘आचार्य कुलकुलद्वंद और उनके पंचपरमागम’, ‘कुलकुलद्वंद शतक’,
‘समयसार पद्यानुवाद’, ‘अध्यापायुः पद्यानुवाद’, ‘द्रष्टव्यसंग्रह पद्यानुवाद’, ‘योगसार पद्यानुवाद’ तथा ‘श्रवणसार पद्यानुवाद’ ने भी समाज में अपार ख्याति अर्जित की है।

‘कुन्दकुन्द स्तरक’ तो विविध रूपों में अबतक एक लाख से भी अधिक संख्या में समाज तक पहुँच चुका है। आपके द्वारा लिखित व संपादित लोकप्रिय महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की सूची अन्यत्र दी गई है।

साहित्य व समाज के प्रशेष क्षेत्र में उनकी गति अबाध है। तत्वप्रचार की गतिविधियों को निरन्तर गति प्रदान करनेवाली उनकी नित नई सृष्टि-वृक्ष, अद्वैत राजसाधनिक क्षेत्र एवं पैनी पकड़ का ही परिणाम है कि आज जयपुर आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया है।

यह भी सबके लिए गौरव का विषय है कि दि. 8 अप्रैल 2001 को राष्ट्रपति आचार्य श्री विद्यानन्दी के पावन साहित्य में देश की राजधानी दिल्ली में लालकिले के मेदान में डॉ. हुकमचन्द्र भारिष्ठ अभिनन्दन समारोह समाप्त हुआ; जिसमें ‘तत्ववेता डॉ. हुकमचन्द्र भारिष्ठ’ अभिनन्दन प्रान्त का लोकार्पण किया गया।

यही नहीं भारिष्ठी के एक शिष्य डॉ. महावीरप्रसाद टोकर ने ‘डॉ. हुकमचन्द्र भारिष्ठ: व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व’ विषय पर शोधकार्य कर सुखाड़िया वि.वि. उदयपुर से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

अध्यात्म जगत को जो अनेक सेवायें डॉ. भारिष्ठ की प्राप्त हो रही हैं, उनका संख्यांकित विचार इस्तेमाल है—

श्री दिगम्बर जैन स्वाभाविक मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के मुख्यपत्र आत्माध्यम को हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और तमिल – इन चार संस्कृतियों का समावेश तो पूर्व में आपके द्वारा हुआ है; किन्तु जयपुर से प्रकाशित होनेवाले हिन्दी आत्माध्यम का प्रकाशन किन्हीं कारणों से अवकल्प हो जाने के कारण, उसी के स्थान पर पण्डित टोड्रमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित ‘वीराग-भ्याज्ञ’ हिन्दी एवं मराठी के अब आप समावेश है।

श्री टोड्रमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के तो आप प्राप्त ही हैं। उनके विद्यालय ने अल्पकाल में ही समाज में अभूतपूर्व प्रतिष्ठ प्राप्त की है। अब समाज को यह आशा बंध गई है कि इसके द्वारा विलुप्त प्राप्त हो रही पण्डित-पीढ़ी को नया जीवनन्दन मिलेगा। अबतक टोड्रमल महाविद्यालय के माध्यम से 387 जैनदर्शन शाखा विद्यालय समाज को प्राप्त होते रहेंगे। वर्तमान में यहाँ 160 छात्र अध्ययन कर रहे हैं।
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा संचालित वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जिसमें प्रतिवर्ष लगभग बीस हजार छात्र-छात्राएं धार्मिक परीक्षा देते हैं, डॉ. साहब ही चला रहे हैं। उसकी पाठ्य-पुस्तक नवीन शैली में प्रायः आपने ही तैयार की है। उन्हें पढ़ने की शैली में प्रशिक्षित करने के लिए ग्रीष्मकालीन अवकाश में प्रतिवर्ष प्रशिक्षण-शिक्षित भी डॉक्टर साहब के निर्देशन में आयोजित किये जाते हैं, जिनमें वे स्वयं अभ्यासकों को प्रशिक्षित करते हैं।

अबतक 40 शिक्षितों में 7855 अध्यापक प्रशिक्षित हो चुके हैं। तत्संबंधी 'प्रशिक्षण निर्देशिका' भी आपने लिखी है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट में धार्मिक साहित्य का बिक्री विभाग भी चलता है, जिसकी बिक्री का अब 23 लाख 13 हजार रुपये प्रतिवर्ष तक पहुँच गई है।

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठ्यालय समिति के भी आप महामंत्री हैं। इस पाठ्यालय समिति के प्रयत्नों से देश में 328 वीतराग-विज्ञान पाठ्यालयाँ चल रही हैं, जिनमें हजारों छात्र धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

इसके अतिरिक्त निर्द्वार होनेवाले आपके प्रभावशाली प्रवचनों से जयपुर ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष लाभ उठाता है, जिससे तत्वाचार्य को अभूतपूर्व गति मिलती है। तर- की बात है कि 27 जून, 1984 से 1 अगस्त, 1984 तक पहली बार आपने अमेरिका और यूरोप के प्रमुख नगरों को दौरा किया। वहाँ आपके प्रवचनों से लोग इसने प्रभावित हुए कि तभी से प्रतिवर्ष आपका कार्यक्रम निर्धारित किया जाने लगा। इसकार अबतक आप 24 बार अमेरिका, इंग्लैंड, जापान, हांगकांग, कानाडा, जर्मनी, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, दुकाई, आबूधग्वा, सरजाह, केनिया में जैनधर्म का डंका बजा चुके हैं। आपके कार्यक्रमों से वहाँ अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हो रही है।

पूर्वी गुजराती के पुस्त-प्रताप से चलने वाली अन्य गतिविधियों में भी आपका वैदिक सहयोग निर्दश घरा होता रहता है। इन सभी कार्यों और इस कृति की रचना के लिए आपको जितना धन्यवाद दिया जाय कम ही है।

इस कृति को जन-जन तक अल्मोल में उपलब्ध कराने का श्रेय उन दाताओं को है, जिनका आर्थिक सहयोग पुस्तक की कीमत कम करने में प्राप्त हुआ है। सभी सहयोगियों का हम हमदय से आभार मानते हैं। साथ ही प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने मुद्रण व्यवस्था में सहयोग दिया है।

आप सभी इस कृति के माध्यम से आपने जीवन को सार्थक बनाते हुए मुक्तिगण्य पर अग्रसर हों—ऐसी मेरी भावना है। — ब्र. यशपाल जैन

21 अक्टूबर, 2006, महापव दीपावली

प्रकाशन मंत्री
प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दाताओं की सूची

<table>
<thead>
<tr>
<th>नं.</th>
<th>नाम</th>
<th>कीमत (रु.)</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>1</td>
<td>श्री हुकमचन्द्रजी नायक, रानीपुर झांसी</td>
<td>400.00</td>
</tr>
<tr>
<td>2</td>
<td>श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज</td>
<td>251.00</td>
</tr>
<tr>
<td>3</td>
<td>श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल</td>
<td>251.00</td>
</tr>
<tr>
<td>4</td>
<td>श्रीमती कुसुम जैन ध.प. विमलकुमारजी जैन, “नीलू केमिकल्स”, दिल्ली</td>
<td>251.00</td>
</tr>
<tr>
<td>5</td>
<td>श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्द्रजी छावड़ा, इन्दौर</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>6</td>
<td>श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>7</td>
<td>श्री जिनेन्द्रकुमारजी जैन, इटावा</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>8</td>
<td>श्रीमती पुष्पा जैन, इटावा</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>9</td>
<td>श्रीमती ममता जैन, इटावा</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>10</td>
<td>श्रीमती माया देवी जैन, इटावा</td>
<td>201.00</td>
</tr>
<tr>
<td>11</td>
<td>श्रीमती भारती जैन, इटावा</td>
<td>200.00</td>
</tr>
<tr>
<td>12</td>
<td>श्रीमती तारादेवी जैन, जयपुर</td>
<td>200.00</td>
</tr>
<tr>
<td>13</td>
<td>श्रीमती विमलादेवी जैन, जयपुर</td>
<td>200.00</td>
</tr>
<tr>
<td>14</td>
<td>स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्द्रजी गंगावाल जयपुर की पुष्प स्मृति में</td>
<td>151.00</td>
</tr>
<tr>
<td>15</td>
<td>श्री देवेन्द्रकुमारजी पाठोदी, इन्दौर</td>
<td>151.00</td>
</tr>
<tr>
<td>16</td>
<td>श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी</td>
<td>101.00</td>
</tr>
<tr>
<td>17</td>
<td>श्री जिनेंद्रकुमारजी जैन, जबलपुर</td>
<td>101.00</td>
</tr>
<tr>
<td>18</td>
<td>पण्डित मिद्हालालजी जैन, इन्दौर</td>
<td>100.00</td>
</tr>
</tbody>
</table>

कुल राशि 3,563.00
<table>
<thead>
<tr>
<th>लेखक के महत्वपूर्ण प्रकाशन</th>
<th></th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>सम्बन्ध (य.के. निमितप्रमोद)</td>
<td>50.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध अनुशीलन भाग-१</td>
<td>25.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध अनुशीलन भाग-२</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध अनुशीलन भाग-३</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध अनुशीलन भाग-४</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध अनुशीलन भाग-५</td>
<td>25.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सम्बन्ध का सार</td>
<td>30.00</td>
</tr>
<tr>
<td>प्रस्तावना का सार</td>
<td>30.00</td>
</tr>
<tr>
<td>प्रस्तावना अनुशीलन भाग-१</td>
<td>30.00</td>
</tr>
<tr>
<td>पं. टोडम्रल व्यक्तित्व और कर्तव्य</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>परामर्शप्रकाशक नवरी</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>विश्व की गहराइयाँ</td>
<td>20.00</td>
</tr>
<tr>
<td>तीर्थ-महावीर और उनका सवार. तीर्थ</td>
<td>15.00</td>
</tr>
<tr>
<td>धर्म के दशकस्थल</td>
<td>16.00</td>
</tr>
<tr>
<td>क्रामबद्धपाल्य</td>
<td>12.00</td>
</tr>
<tr>
<td>बिखरे मोटी</td>
<td>16.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सत्य की खोज</td>
<td>16.00</td>
</tr>
<tr>
<td>अध्यात्मनवीनत</td>
<td>15.00</td>
</tr>
<tr>
<td>आप कौन भी कहो</td>
<td>10.00</td>
</tr>
<tr>
<td>आत्मा ही है शरण</td>
<td>15.00</td>
</tr>
<tr>
<td>सुफ़ि-सुधा</td>
<td>18.00</td>
</tr>
<tr>
<td>बारह भावना : एक अनुशीलन</td>
<td>15.00</td>
</tr>
<tr>
<td>दृष्टि का विषय</td>
<td>10.00</td>
</tr>
<tr>
<td>गार यो सागर</td>
<td>7.00</td>
</tr>
<tr>
<td>पंचकल्याणक प्रतिष्ठान महत्त्व</td>
<td>8.00</td>
</tr>
<tr>
<td>पण्डिकार महामंत्र : एक अनुशीलन</td>
<td>10.00</td>
</tr>
<tr>
<td>रक्षाबन्धन और दीपवाली</td>
<td>5.00</td>
</tr>
<tr>
<td>आ.कुंडकुंड और उनके पंचमरम्माग</td>
<td>5.00</td>
</tr>
<tr>
<td>युगपुष्प कान्तस्वामी</td>
<td>5.00</td>
</tr>
<tr>
<td>वीरराग-विज्ञान प्रशिक्षण निदेशिका</td>
<td>2.00</td>
</tr>
<tr>
<td>पश्चात्प्रसन्न</td>
<td>6.00</td>
</tr>
<tr>
<td>मैं कौन हूँ</td>
<td>4.00</td>
</tr>
</tbody>
</table>
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

पहला दिन

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जैनसमाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नैमित्तिक महोत्सव है। इसका आयोजन एक विशाल मेले के रूप में होता है, इसमें देश के कोने-कोने से लाखों जैन भाई और बहिनें एकत्रित होते हैं। लगातार आठ दिन तक चलने वाले इस विशाल मेले की तैयारियाँ कुंभ मेले के समान महीनों पहले से चलती हैं।

यह महोत्सव अन्य लोकिक मेलों के समान आमोद-प्रमोद का मेला नहीं है, यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक मेला है; जिसके साथ सम्पूर्ण जैन समाज की आस्थाएँ और धार्मिक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। इसमें खान-पान और खेलने-कूदने की प्रधानता नहीं रहती; अपितु संयम और तप-त्याग की प्रधानता होती है, वातावरण एकदम आध्यात्मिक बन जाता है।

जिसप्रकार हम अपने पारिवारिक पूर्वजों की स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए, उनके चित्र आपने घरों में लगाते हैं; अथवा अपने राष्ट्रीय नेताओं की स्मृति बनाये रखने के लिए, उनके चित्र या स्टेच्यू समुचित राष्ट्रीय महत्व के स्थानों पर लगाते हैं, स्थापित करते हैं; यथावत माल्यार्थ आदि के द्वारा उनका सम्मान करते हैं; उसीप्रकार अधिकांश धर्मों में अपने धर्मपूर्वजों, धार्मिक नेताओं, तीर्थकरों एवं भगवानों की तद्दर्श आदि मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती हैं।

जैनधर्माचलम्बी भी तीर्थकरों की तद्दर्श आदि मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करते हैं, स्थापित करते हैं। इस परमपावन भारतवर्ष में हजारों जिनमंदिर हैं और उनमें लाखों जिनबिंब (मूर्तियाँ) विराजमान हैं; जिनके
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

दर्शन, पूजन और भूक्ष प्रतिदिन लाखों जैन भाई-बहिन करते हैं। लाखों लोग तो ऐसे हैं, जो उनके दर्शन बिना, उनकी पूजन बिना भोजन भी नहीं करते। जिनमन्दिरों में विराजमान जिनबिंब्ब का अपना एक महत्त्व है। वे जिनबिंब्ब हमारी संस्कृति के तत्कालीन हों, संस्कृति भी हैं। सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए लाखों जिनबिंब्ब हमारे समुद्र अतीत के सबूत तो हैं ही, यह भारत हमारी मूल भूमि है, इसके भी सशक्त प्रमाण हैं।

पाषाणों में उत्कीर्ण या धातुओं से ढले ये चौराही जिनबिंब्ब (मूर्तियाँ) तबतक पूजने योग्य नहीं माने जाते, जबतक न कि उनकी विविधपूर्वक प्रतिष्ठा नहीं हो जाती। इस प्रतिष्ठाविधि को सम्पन्न करने के लिए जो महोत्सव होता है, उसे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कहते हैं।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है। इस महोत्सव में पंचकल्याणक सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रियाओं के माध्यम से आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का प्रदर्शन होता है, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से समागम आड़लुओं को आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई जाती है।

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो यह कहता है कि प्रत्येक आत्मा स्वर्ण परमात्मा है। अपना यह आत्मा स्वभाव से तो परमात्मा है ही, यदि स्वर्ण को जाने, पहिचाने और स्वर्ण में ही जम जावे, रम जावे; तो प्रकट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकता है।

हमारे चौबीसों ही तीर्थकर अपनी पिछली पर्यायों में हमारे समान ही पामर पर्यायों में थे; पर उन्होंने स्वर्ण को जाना, पहिचाना, स्वर्ण का अनुभव किया; स्वर्ण में ही समा गये; परिणामस्वरूप तीर्थकर बने, सर्वजन हुए। भले ही इस प्रक्रिया के सम्पन्न करने में उन्हें दश-पाँच भव लग गए हों; पर उन्होंने अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर ही लिया।

भगवान महावीर ने यह महान कार्य अपने दश भव पहले शेर की पर्याय में आरम्भ किया था और भगवान पारशुराम ने यह कार्य हाथी की पर्याय में
पहला दिन

आरम्भ किया था। इससे सिद्ध होता है कि जैनदर्शन मात्र नर से नारायण बनाने वाला दर्शन नहीं, अपितु पशु से परमेश्वर बनाने वाला वीरागी दर्शन है।

पंचकल्याणक वे महान् क्रान्तिकारी घटनाएँ हैं, जो प्रायः प्रत्येक तीर्थकर के जीवन में घटित होती हैं और उनके परमकल्याण का कारण बनती हैं।

यद्यपि करिपप तीर्थकरों के जीवन में दो या तीन ही कल्याणक होते हैं, पर यह बात अपवाद के रूप में ही समझना चाहिए। ऋषिकेश से लेकर महावीर पर्यन्त भरतकेश्वर के सभी तीर्थकरों के पाँचों ही कल्याणक हुए हैं, अतः मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिए पंचकल्याणक महोत्सव ही होते हैं, दो कल्याणक महोत्सव या तीन कल्याणक महोत्सव नहीं।

देश या विदेशों में विवाहम जिनालयों में जितने भी जिनबिध्र विराजमान हैं, वे सभी इन पंचकल्याणकों में ही प्रतिष्ठित हुए हैं और भविष्य में भी जितने जिनबिध्र विराजमान होंगे, वे सब भी इसी विधि से विराजमान होंगे। इसप्रकार यह महोत्सव एक अत्यन्त आवश्यक महोत्सव है। इसका सर्व्यथा निषेध करना श्रमण संस्कृति के लिए धातक भी हो सकता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि जहाँ पहले से ही अनेक जिनालय विवाहम हैं, उनमें अनेकानेक जिनबिध्र विराजमान हैं, वहाँ बिना आवश्यकता के मात्र अपने मान पोषण के लिए मन्दिर बनाना, उसमें जिनबिध्र विराजमान करना, तदर्थ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव करना अवश्य आवश्यक है।

इसप्रकार के उत्सवों को अवश्य हतोत्साहित किया जाना चाहिए, पर जहाँ जिनालय होंगे ही नहीं, वहाँ तो उनका बनाना अत्यन्त आवश्यक है, उनमें जिनबिध्रों का विराजमान करना भी जरूरी है और तदर्थ पंचकल्याणक भी आवश्यक है ही।

क्या विदेशों में बन रहे मन्दिर भी आवश्यक हैं? पूरे काठियावाद में एक भी ढंग का दिगम्बर जिनमंदिर नहीं था और आध्यात्मिकसत्पुरुष
श्रीकान्तीस्वामी के पुण्यप्रताप से वहाँ लाखों नये दिगम्बर जैन बने और
उन्होंने अपने-अपने नगरों में अनेक दिगम्बर जिनमंदिर बनवाये। क्या इन
जिनमंदिरों का निर्माण भी अनावश्यक था? क्या वहाँ होने वाले
पंचकल्याणक भी अनावश्यक थे?

इसीप्रकार प्रत्येक नगर में नई-नई कालों में बन रही हैं, जिनमें सैकड़ों
जैन परिवार भी बसते जा रहे हैं। मुख्य नगर से मीलों दूर बनने वाले इन
उपनगरों में भी जिन्होंने का निर्माण अपने आवश्यक है, तदर्थ
पंचकल्याणक भी आवश्यक ही हैं।

न तो नये बनने वाले प्रत्येक जिनमंदिर का निषेध ही आवश्यक है
और न बिना विचार के समर्थन करना ही ठीक है। इसीप्रकार न तो प्रत्येक
pंचकल्याणक का विरोध उचित है और न ही बिना समझे समर्थन करना
ठीक है। प्रत्येक के समस्य में व्यक्तिगत रूप से गुण-दोष के आधार
पर सहयोग और असहयोग व्यक्त की जानी चाहिए।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर यहाँ एक और अधिक संतान
पैदा करने वालों का परिवार नियोजित करने के लिए प्रेरित किया जाता है,
उनके लिए सरकार की ओर से जिस अस्पताल में परिवार नियोजन की सब
सुविधाएँ उपलब्ध हों, वहाँ दूसरी ओर उसी अस्पताल में उनका भी इलाज
किया जाता है, जिनके संतान नहीं होती; क्योंकि जिनके एक-दो संतानें
हैं, उन्हें तो अधिक संतान आवश्यक नहीं हैं, पर जिनके संतान हैं ही नहीं,
उन्हें तो संतान चाहिए ही।

जिसप्रकार परिवार नियोजन के मामले में सरकार ने सन्तुलित दृष्टिकोण
अपनाया है; उसीप्रकार हमें भी जिनमंदिर निर्माण और पंचकल्याणक
प्रतिष्ठाओं के संदर्भ में सन्तुलित दृष्टिकोण बनाना चाहिए।

बढ़ती हुई जनसंख्या से घबराकर यदि सरकार 25-30 वर्ष के लिए
संतानें पैदा करने पर पूर्ववर्त: प्रतिबन्ध लगा दे तो उसका क्या दुःखहराम
होगा? क्या आप यह भी जानते हैं?
पहला दिन

आरम्भ के २५-३० वर्ष तक यदि कोई बालक न रहेगा तो उसके बाद के वर्षों में जब बड़ा ही न होंगे तो फिर दुबारा उत्पत्तिक्रम भी कैसे संभव होगा? यह तो सर्व विनाश का अविवेकपूर्ण रास्ता है, जिसे कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं अपना सकता।

इसीप्रकार मन्दिरों, मूर्तियों और पंचकल्याणकों की अधिकता देखकर इन पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाना समझदारी का काम नहीं है। क्या आप यह पसंद करेंगे कि हमारी भावी पीढ़ियाँ एवं इतिहासकार हमारे युग को इस रूप में याद करें कि यह एक ऐसा युग था कि जब भोग के मन्दिर तो अनेक बने, पर योग का मन्दिर एक भी न बना; भोग के उत्सव तो प्रतिवर्ष लाखों हुए, पर योग का उत्सव एक भी न हुआ।

स्वर्ग्युग के रूप में तो हम उस युग को ही याद करते हैं कि जिस युग में देवगढ़ जैसे देवों के गढ़ बने। इस बात पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है और गुणदोष के आधार पर संतुलित दृष्टिकोण अपनाने की परमावश्यकता है।

आवश्यकतानुसार ही होने वाले जिनमन्दिरों के निर्माण और पंचकल्याणकों पर प्रतिबंध लगाने के स्थान पर उनमें समागम विकृतियों का परिमार्जन किया जाना अधिक जरूरी है, उनका उपयोग वीरतागी धर्म के समुचित प्रचार-प्रसार में किया जाना ही सही मार्ग है। नकारात्मक रास्ता चुनने के स्थान पर रचनात्मक रास्ता चुनना ही श्रेयस्कर है।

आज पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का पहला दिन है और इस विशाल पंडाल का निर्माण अयोध्यानगर के रूप में हुआ है; क्योंकि यहाँ इस अवसरांशीकार के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का पंचकल्याणक महोत्सव होने जा रहा है। उनका जन्म अयोध्या में हुआ था, अतः यह पंडाल भी अयोध्यानगर के रूप में निर्मित हुआ है।

यद्यपि इस पंचकल्याणक के विधिनायक ऋषभदेव (आदिनाथ) हैं; तथापि इसमें सभी तीर्थकरों की मूर्तियाँ प्रतिच्छित होंगी। मूल विधि तो
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

विधिनायक की मूर्ति पर ही सम्पूर्ण होगी, किन्तु सामान्य विधि तो सभी मूर्तियों पर होती है। पूजन भी प्रतिदिन सभी तीर्थकरों को होती है।

मूलतः तो प्रत्येक पंचकल्याणक श्रीमिजिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव ही होता है और उसमें सभी जिनेन्द्रों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं, पर प्रत्येक पंचकल्याणक में किसी एक तीर्थकर को विधिनायक के रूप में स्वीकार किया जाता है और उनके जीवन के आधार पर पंचकल्याणक का कार्यक्रम सुनिश्चित होता है।

ये पंचकल्याणक ऐसी पाँच घटनाएँ हैं, जो भरत क्षेत्र के चौबीसों तीर्थकरों के जीवन में समान रूप से ही पूर्ण हुईं थीं। अतः किसी भी तीर्थकर को विधिनायक क्यों न बनाया जाय, कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़कर कोई विशेष अन्तर नहीं आता। माता-पिता के नाम, जन्मस्थान, वैराग्य का निमित्त आदि बातों में ही अन्तर आता है, शेष तो सब समान ही है। वे ही सौरभमदि इत्र, वही सुमेदुर्पर्व, वही पाढ़ुकशिला, वैसा ही अभिप्रेक्ष्य आदि सब एक-सा ही होता है।

यदि कोई विशेष कारण न हो तो अधिकांश पंचकल्याणकों में ऋषभदेव को ही विधिनायक बनाया जाता है; क्योंकि उपलब्ध सभी प्रतिष्ठापत्तों की रचना उन्हीं को विधिनायक मानकर हुई है। जब अन्य तीर्थकरों को विधिनायक बनाया जाता है तो प्रतिष्ठाचार्य आवश्यक संशोधन करके प्रतिष्ठा सम्पन्न करते हैं।

अयोध्यानगर के रूप में बने इस विशाल पंडाल में आज हम सबने पंचकल्याणक का झंडा गाड़ दिया है। अतः हम सबको आज से अपना झंडा भी यहाँ गाड़ देना चाहिए और हर कार्यक्रम में आद्योपान्त उपस्थित रहकर इस महायज्ञ का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए।

सफलता विषयक के धनी कर्मिता बुद्धिमानों के चरण चूमती है।
—आप कुछ भी कहो, पृष्ठ २९
दूसरा दिन

ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भगवान बनने की प्रक्रिया के महोत्सव हैं। इन महोत्सवों में जितने भी जिनबिम्ब (प्रतिमाएँ) प्रतिष्ठित होने आते हैं, वे सभी प्रतिष्ठित होकर ही जाते हैं, भगवान बनकर ही जाते हैं। यह तो सर्वाधिक ही है कि प्रतिष्ठित जिनबिम्बों को स्थापनान्य और स्थापनानिक्षेप के आधार पर भगवान कहने का ही व्यवहार प्रचलित है, जो उचित भी है।

में तो जिस भी पंचकल्याणक में प्रवचनार्थ जाता हूँ, वहाँ अपने आरंभिक प्रवचनों में एक बात अवश्य कहता हूँ कि इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में समागम धातु या पाण्यान की मूर्तियाँ जब भी यहाँ से वापिस जायेंगी, तब वे भगवान बनकर ही जायेंगी, पर इस पंचकल्याणक में समागत जनता की भी कोई जिम्मेदारी है कि वे जैसे आये हैं, वैसे ही वापिस न चले जायें, यहाँ से कुछ लेकर जायें, कुछ सीखकर जायें। भले ही वे मूर्तियों के समान भगवान न बन पाएं, पर उनमें भी तो कुछ न कुछ परिवर्तन तो आना ही चाहिए।

में महिलाओं से विशेष रूप से कहता हूँ कि यदि गृहस्थी की झंझटों के कारण बहू यहाँ न आ पाई हो, पर सास आ गई हो तो उसकी यह जिम्मेदारी है कि जब वह वापिस घर पहुँचे तो उसकी बातों से नहीं, अपितु उसके अवस्थान से यह प्रतीत होना चाहिए कि अमाजी गंगाजी नहा के आई हैं, पंचकल्याणक देख के आई हैं, इस कारण अब ज्वालाबाई से शान्तिबाई हो गई हैं। उनके स्वभाव में थोड़ी-बहुत नस्रता व सरलता तो आना ही चाहिए।

यदि कारणवस्त्र बहू आ गई हो, सास न आ पाई हो तो उसकी भी जिम्मेदारी है कि जब वह वापिस अपने घर पहुँचे तो उसकी ड्रेसिंग टेबिल पर शीशियों की भीड़ कुछ न कुछ कम अवस्था होनी चाहिए।
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महात्मव

क्या आप जानती हैं कि ये श्रृंगार-सामग्री कितनी कूरता से बनती हैं, इनके निर्माण में कितने जीवों की हिस्सा होती है? स्वयं की सुदरता निखारने के लिए निरीक्ष नूक पशु-पक्षियों का यह प्रतारण हमें कहाँ ले जायगा? इसका भी विचार करना चाहिए।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप सजे-सजे नहीं, पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि इस कार्य में हिस्सक सामग्री का उपयोग कदापि न करें। ये रेशमी साड़ियाँ, जो करोड़ों कीड़ों को मारकर बनाई जाती हैं — इनका उपयोग कदापि न करें, अपने जीवन को धर्ममय बनायें।

बहिनों से कही गई मेरी इस बात को सुनकर भाइयों को मुसाफर की जरूरत नहीं; क्योंकि उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है, उन्हें भी अपने उत्तरदायित्व को पहचानना चाहिए।

यदि इस उत्सव में पिता आ गये हों, पर कार्यक्रिया से पुत्र न आ पाये हों तो उन पिताओं के जीवन में भी इस पंचकल्याणक के दर्शन से ऐसा परिवर्तन आना चाहिए कि उनके व्यवहार से पुत्रों को भरोसा हो जाये कि अब तिजोड़ी की चाबी प्राप्त करने के लिए पिताजी की मरने का इन्तजार नहीं करना पड़ेगा। धन्ये-पानी से उनका मोह कुछ न कुछ कम अवश्य होना चाहिए।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं कि जबतक उनका स्वर्गार सही हो गया, तबतक बचे अपने घर का फर्नीचर भी नहीं बदलता पाये; उनके मरने के उपरान्त ही घर में कुछ परिवर्तन संभव हो पाया है। इतना भी घर से क्या चिपटना? अब उसम हो गई है तो घर से विरल होकर आलमहित में प्रवृत्त होना ही चाहिए।

यदि इस पंचकल्याणक में पिता न आ पाये हों और पुत्र आ गये हों तो उनमें भी कुछ न कुछ बदलता तो आना ही चाहिए। उनके घर लौटने पर उनके माता-पिता की कम से कम यह बिना तो समाप्त होनी ही चाहिए कि अब हमारे देहांत के बाद भी ये जिनमंदन बिना पूजा-पाठ के नहीं रहेंगे; इनमें वैसी ही हलचल रहेगी, जैसी कि आज रहती है। इन पंचकल्याणकों
दूसरा दिन

में प्रतिष्ठित जिनबिन्यों की पूजा-पाठ कौन करेगा? उनकी यह चिंता तो समाप्त होनी ही चाहिए।

आप जरा सोचिए तो सही कि आप शान्ति के इस महायज्ञ में पधारे हैं, तो क्या आपका चित्र रंचमात्र भी शान्त न होगा, विषय-कषाय की ज्वालाएँ वैसी की वैसी ही जलती रहेंगी?

जब हम बहुत गर्मी का अनुभव करते हैं तो पाँच मिनट के लिए स्नानघर में चले जाते हैं और ठंडे पानी से नहाते हैं तो हमारी गर्मी शान्त हो जाती है; तो क्या हमारे ये आठ दिन के पंचकल्याणक महोत्सव उस पाँच मिनट के स्नानघर से भी गये-बीते हैं, जो इन्हें आठ-आठ दिन रहकर भी हमारे चित्र में रंचमात्र भी शान्ति न आवे? इस महोत्सव की लाज अब आपके हाथ में है।

पत्थर की मूर्तियाँ तो भगवान बन के जाएंगी, पर हम तो चैतन्यतत्व हैं; क्या हम पत्थर की जड़-मूर्तियों से भी गये-बीते हैं, जो वैसे के वैसे ही चले जाएंगे? आज हम सब को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

यदि आप यहाँ से कुछ लेकर गये, कुछ शान्त होकर गये, कुछ बदलकर गये, कुछ धर्मनिष्ठ होकर गये, तो उसमें आपका तो परम लाभ है ही; पंचकल्याणक की भी सार्थकता इसी में है और आयोजकों के श्रम की सफलता भी इसी में है।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जिनें द्र प्रतिष्ठाओं की प्रतिष्ठा का महोत्सव है, पर आज यहाँ इंद्र प्रतिष्ठा हो रही है।

यह तो आप जानते ही हैं कि तीर्थकरों के जो असली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुए थे, उन सभी का संचालन इन्द्रों ने ही किया था। तीर्थकरों के जन्मादि के सभी उत्सव मुख्यरूप से इन्द्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतः उन पंचकल्याणकों की नकल के आधार पर होने वाले इन पंचकल्याणकों में भी इन्द्रों की आवश्यकता होती है। तदर्थ कुछ व्यक्तियों को चुनकर इंद्रप्रतिष्ठा द्वारा उन्हें इंद्र बनाया जाता है। ये सभी प्रतिष्ठित इंद्र
पंचकल्याणक की वे सभी क्रियायें-प्रक्रियायें विधिवत्तू सम्पन्न करते हैं, जो क्रियायें-प्रक्रियायें ऋषभदेव के असली पंचकल्याणक में सौधामादि इन्द्रों ने की थी।

यह इन्द्रप्रतिष्ठा इसलिए भी आवश्यक है कि यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एक अत्यन्त विशाल और महान महोत्सव है। इसकी पूजा-पाठ और क्रिया-प्रक्रिया में जो व्यक्ति सम्मिलित हो जाता है, वह बीच में इससे अलग नहीं हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति के घर सूआ या सूतक हो जावे तो समस्या खड़ी हो सकती है, पर इस इन्द्रप्रतिष्ठा से उस आठ दिन के लिए उस व्यक्ति का गोत्र ही बदल जाता है, जाति ही बदल जाती है, गति ही बदल जाती है; इस कारण उसे उस सूआ-सूतक का दोष नहीं लगता। अब तो वह इन्द्र बन चुका है, साधारण मानव नहीं रहा है तो मानव परिवार को लगने वाले सूआ-सूतक से वह कैसे प्रभावित हो सकता है?

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यह सब तो नाटक-सा लगता है, पर भाई साहब यह एक प्रकार का नाटक ही तो है; क्योंकि इसमें असली पात्र कहाँ हैं? इसमें न तो असली तीर्थकर ऋषभदेव हैं और न असली इन्द्रादि। नाटक में भी यह यही होता है कि पौराणिक-ऐतिहासिक असली पात्रों के जीवन में जो कुछ भी घटित हुआ था, उसे स्टेज पर अभिनय के माध्यम से पात्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ भी पौराणिक तीर्थकर महापुरुषों के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को स्टेज पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

पौराणिक पुरुषों के जीवन को नाटक के रूप में प्रस्तुत करने वालों का भी उद्देश्य यही होता है कि लोग उनके जीवनदर्शन से शिक्षा प्राप्त करें और इसका उद्देश्य भी लगभग यही है। पर इस पंचकल्याणक को नाटक कहने से कुछ लोगों को अटपट्ट-सा लगता है और वे लोग इस बात पर नाराज भी होने लगते हैं। वे कहते हैं कि आप हमारे इस महान उत्सव को नाटक कहते हो?
दूसरा दिन

नाटक शब्द का सही भाव न समझने के कारण ही उन्हें इस प्रकार का विकल्प आता है, पर नाटक शब्द स्वयं महान है। आचार्य अमृतचंद्र ने तो ग्रन्थाधिराज समयसार को भी नाटक समयसार कहा है। क्या ये प्रतिष्ठापाठ समयसार से भी महान हैं?

नाटक समयसार अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट नाटक है और ये पंचकल्पाणक प्रतिष्ठा महोत्सव व्यवहार के सर्वोत्कृष्ट नाटक हैं, जो हमारे जीवन को परिवर्तित करते हैं। मूल पतनों के जीवन को सीमित समय में चतुर निर्देशकों के निर्देशन में अभिनेताओं द्वारा अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाना ही तो नाटक का वास्तविक स्वरूप है। इन पंचकल्पाणकों का निर्देशक प्रतिष्ठाचार्य होता है। प्रतिष्ठाचार्य के निर्देशन में तीर्थकरों के जीवन की कल्पानकारी घटनाओं को पात्रों द्वारा सीमित समय में पंचकल्पाणकों के स्टेज पर प्रस्तुत किया जाना ही पंचकल्पाणक प्रतिष्ठा महोत्सव है। इसमें नाटक के सभी तत्त्व विधायी हैं।

अर्जून जनता को पंचकल्पाणक का स्वरूप समझने की भावना से जब मैंने एक बार यह कहा कि यह पंचकल्पाणक प्रतिष्ठा महोत्सव एक प्रकार से मैंने को रामलीला है तो कुछ लोग उद्योग से हो गये और कहने लगे कि आप हमारे इस पंचकल्पाणक को रामलीला कहते हो।

मैंने उन्हें समझने का प्रयत्न किया कि भाईसाहब ये अर्जून भाई रामलीला के उदाहरण से इसका स्वरूप जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं; उससे अच्छा और कोई उपाय नहीं है। मैं रामलीला का उदाहरण देकर पंचकल्पाणकों की प्रतिष्ठा घटाना नहीं चाहता, अपितु बढ़ाना चाहता हूँ। मैं पंचकल्पाणकों का विरोधी नहीं हूँ।

राम भी तो भगवान हैं, जनियों के यहाँ भी वे तीर्थकरों के समान बीरतागी सर्वज्ञ होकर मोक्ष गये हैं। रामलीला में उनके जीवन को प्रदर्शित कर जनता को समागम पर लगाने का ही प्रयास किया जाता है और इन पंचकल्पाणकों में यही होता है।
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

रामलीला का प्रदर्शन भी तो नाटक के रूप में ही होता है। वैष्णव संस्कृति में रामलीला की महिमा भी कम नहीं है, जो उसका उदाहरण देने से हमारे पंचकल्याणक की महिमा घट जावे गी।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि आप बार-बार यह कह रहे हैं कि जब ऋषभदेव का असली पंचकल्याणक हुआ था, तब सौरभार्य दिवस और इन्हें ने ही आकर किया था, तो क्या हमारा यह पंचकल्याणक असली नहीं है, नकली है?

कौन कहता है कि यह पंचकल्याणक नकली है? यह असली भी नहीं है और नकली भी नहीं है। यदि यह असली है तो फिर चौथे काल में नाथीराय ने घर अयोध्या में जो पंचकल्याणक सम्पत्ति हुआ था, वह क्या था? असली पंचकल्याणक पंडालों में नहीं हुआ करते; पर यदि यह असली नहीं है तो नकली भी नहीं है, अपितु असली की असल-नकल है। नकली और नकल में बहुत बड़ा अंतर होता है।

असल-नकल का अर्थ होता है सत्य प्रतिलिपि। सत्य प्रतिलिपि तो मूल के समान ही प्रामाणिक होती है, पर नकली का अर्थ तो एकदम गलत ही होता है।

जब कोई व्यक्ति नौकरी के लिए प्रार्थना-पत्र देता है और उसके साथ प्रमाण-पत्र की असल-नकल (सत्य प्रतिलिपि) भी लगाता है तो उसका काम हो जाता है, पर यदि नकली प्रमाण-पत्र लगावे तो जेल जाना होगा।

यह पंचकल्याणक नकली नहीं है, असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, सत्य प्रतिलिपि है; अतः इसका फल भी असली के समान ही प्राप्त होता है। नाटक भी तो नायक का असली जीवन नहीं होता, नायक के जीवन की असल-नकल ही होता है; पर उसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। उसी प्रकार यह पंचकल्याणक भी तीर्थकर ऋषभदेव के असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, पर इसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है।
दूसरा दिन

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि हम इस पंचकल्याणक से असली पंचकल्याणक का लाभ लेना चाहते हैं तो हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए कि यह असल-नकल ही हो। तात्पर्य यह है कि यह पंचकल्याणक उस पंचकल्याणक के अनुरूप ही होना चाहिए।

यहाँ भी एक प्रश्न संभव है कि ऐसा कैसे हो सकता है? कहाँ असली इन्द्र की व्यवस्था और कहाँ सामान्य मानवों की व्यवस्था? कहाँ असली चेतन तीर्थकर और कहाँ अचेतन पथर की प्रतिमा?

अरे भाई, समानता का आशय न तो वैभव और शक्ति से है और न चेतन-अचेतन से ही है। तात्पर्य यह है कि यदि सर्वज्ञ भगवान शान्त चीतरागी थे तो उनकी प्रतिमा भी शान्त और चीतरागी छवि की होनी चाहिए; सर्वज्ञ चीतरागी भगवान का उपदेश चीतरागता का पोषक होता था तो यहाँ भी चीतरागता के पोषक व्याख्यान भी होना चाहिए।

व्या भगवान के समोशस्त्र में जाकर कोई भगवान के अंगों पर अन्न लगाता था, उनके अंगों को पूलों से सजाता था? यदि नहीं तो फिर आप यहाँ भी ऐसा कैसे कर सकते हैं? जो काम आदिनाथ की अयोध्या में संभव नहीं था, वह काम इस पांडाल में भी कैसे हो सकता है?

इस बात को गहराई से समझने के लिए आपको इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को भूलना होगा और यह विचार करना होगा कि आप अयोध्या के नागरिक हैं और यह चतुर्थाष्ट का आरंभिक काल है। आप भी इस महानाटक के एक पात्र हैं। भले ही आपने कोई बोली न ली हो, इन्द्र न बने हों, सक्रिय कार्यकर्ता भी न हों, मात्र लाभ लेने ही आये हों, फिर भी आप अयोध्या के नागरिक के रूप में इस महानाटक के एक पात्र हैं। अतः आपका व्यवहार भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों के समान शालीन होना चाहिए, तथापि इस पंचकल्याणक असली पंचकल्याणक की असल-नकल होगा और उसका पूरा-पूरा लाभ आपको प्राप्त होगा।
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

शायद आप यह तो जानते ही होंगे कि उस समय बड़े से बड़े अपराध के लिए मात्र तीन ही दण्ड थे - हा, मा और धिक्क। यदि किसी से कोई गलती होती थी तो ‘हा’ कह देने मात्र से वह पानी-पानी हो जाता था। अधिक हुआ तो ‘मा’ कहा जाता था। धिक्क’ का अर्थ है कि ऐसा मत करो। इससे भी काम न चला तो ‘धिक्क’ शब्द का प्रयोग किया जाता था। किसी को ‘धिक्क’ क्या कह दिया मानो फाँसी पर ही चढ़ा दिया। उस समय सभी सहज व सरल वृत्ति के लोग थे। हमें भी यदि आत्मा का उत्थान करना है तो सहज व सरल वृत्ति का बनना होगा।

आज आपकी भी अयोध्या के नागरिक के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। अब आप ऐसा अनुभव कीजिए कि आप राजा नाभिराय की प्रजा हैं। यदि आप ऐसा कर सके तो निश्चित रूप से आपके परिणाम कुछ न कुछ कोमल, कुछ न कुछ सरल अवधार होंगे और आपको इस पंचकल्याणक में सम्पन्न होने का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त होगा।

आशा है आप इस बात पर गंभीरता से विचार करेंगे।

विवेक और अविवेक का खेल

जहाँ विवेक है, वहाँ आनंद है, निर्माण है और जहाँ अविवेक है, वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है; पर जिस समय अविवेकी निरन्तर यह अवस्था में संलग्न रह बहुमूल्य नर्मध्व को योगी ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूर्त अनन्त विभव का एक-एक क्षण सत्य के अवतारण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह असरक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के चातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनंद और कलेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है – यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है।

- सत्य की खोज, पुस्तक १९९
तीसरा दिन

आज पंचकल्याणक का तीसरा दिन है। आज गर्भकल्याण की पूर्व क्रिया का कार्यक्रम होगा। गर्भकल्याणक तो कल होगा, पर आज गर्भकल्याणक के भी पहले होने वाली कुछ आवश्यक क्रियाएं सम्पन्न होंगी।

जब तीर्थकर का जीव माता के गर्भ में आता है, तब उसके पूर्व माता को रात्रि के अंतिम प्रहर में सोलह सपने आते हैं, जो इस बात के सूचक होते हैं कि माता के गर्भ में तीर्थकर का जीव आने वाला है।

आज रात को वही सोलह स्वप्नों का दृश्य दिखाया जायगा। उसमें सब बातें प्रतिष्ठायाँ द्वारा स्पष्ट की जायेंगी।

यह तो आप जानते हैं कि जब भी कोई महान कार्य सम्पन्न होता है तो वह ऐसे ही सम्पन्न नहीं हो जाता। पहले वह हमारे सपनों में आता है, हम सपने सजाते हैं, हमारे मानस का निर्माण भी उसीप्रकार का होता है, वह निरंतर हमारे चित्त में विषय बनता है, हम उसमय हो जाते हैं, तब कहीं कोई महान कार्य सम्पन्न होता है। हर कार्य की एक भूमिका होती है।

ताजमहल जमीन पर बनने के पहले किसी के सपनों में बना होगा, किसी के कल्पनाजगत में अवतरित हुआ होगा। उसके बाद नक्शे के रूप में कागज पर आया होगा, तब कहीं जाकर जमीन पर बना होगा।

कैसे होंगे वे माता-पिता, जिनके आंगन में तीर्थकर का अवतार होगा? कैसा होगा वह नगर, जहाँ तीर्थकर का जन्म होगा और कैसे होंगे वे नागरिक, जिन्हें तीर्थकरों के सस्तमागम का लाभ प्राप्त होगा? हमें इस बात की कल्पना करनी चाहिए, यह बात हमारे विचार की वस्तु बननी चाहिए। यह बात हमारे सपनों की वस्तु बननी चाहिए।
हम गीत गाते हैं कि -
एक बार तो आना पड़ेगा, सोते हुए भारत को जगाना पड़ेगा।
मान लीजिए भगवान ने आपकी प्रार्थना सुन ली है और वह आने को
tैयार हैं, पर एक समस्या है कि वे किस नगर में पथराएं, किस घर में अवतरित
hों और किस माँ की कूद में आवें?

है कोई तत्कालीन अयोध्या जैसा नगर, है कहाँ तत्कालीन अयोध्या जैसे
सीधे-सरल सजना नागरिक, है कोई मस्तवी जैसी भ्रद माता और है कोई
नाभिराय जैसा पिता?

पहले हमें ऐसा बनाना होगा, जिनके यहाँ तीर्थकर अवतरित हो सकें।
यह तो आप जानते ही हैं कि तीर्थकर अपनी माँ के इकलौते पुत्र होते हैं।
वे अपनी माँ की पहली संतान होते हैं और उनके जन्म के बाद माँ पूर्ण ब्रह्मचर्य ब्रत ले लेती है, अतः दूसरी संतान होने का सवाल ही नहीं रहता।
है ऐसी कोई माता, जो भरी जवानी में पहली संतान के बाद ब्रह्मचर्य ब्रत
धारण करने की भावना रखती हो? अनेकों ब्रह्मचर्य ही की बात नहीं है,
और भी अनेक विशेषताएँ होती हैं तीर्थकर की माता में।

यही कारण है कि इन पंचकल्याणकों में भी भगवान के माता-पिता बनने
बालों को ब्रह्मचर्य ब्रत दिया जाता है। माता-पिता की बोली भी नहीं लगती
है, क्योंकि इनमें पैसे की मुख्यता नहीं होती, सदाचारी जीवन की मुख्यता
होती है, गरिमा की मुख्यता होती है। कहाँ मिलते हैं ऐसे महान युवा दयाति
tीर्थकर के माता-पिता बनने के लिए? अन्ततः अनेक संतानों के माता-
पिताओं को ही तीर्थकर का माता-पिता बनाना पड़ता है; क्योंकि ब्रह्मचर्य
लेने को भी वे ही तैयार होते हैं।

वस्तुतः यह पंचकल्याणक भगवान बनने की प्रक्रिया का महत्त्व है,
इन्द्र या राजा बनने या भगवान के माँ-बाप बनने की प्रक्रिया का महत्त्व
नहीं है। इसमें भगवान बनने की विधि बताई जाती है, भगवान बनने की प्रेरणा
तीसरा दिन

dी जाती है, इन्द्रादि बनने की नहीं; तथापि इन्द्र व राजा बनने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, भगवान के माँ-बाप बनने वाले भी मिल जाते हैं, पर भगवान बनने की कोई नहीं सोचता।

भगवान के माँ-बाप बनने का काम भी बहुत बड़ी जिम्मेवारी का काम है। माँ-बाप बनने वालों को स्वयं इसे समझना चाहिए। कहाँ ऐसा न हो कि उनके जीवन को देखकर लोगों के हृदय में तीर्थकरों के माँ-बाप की गरिमा कम हो जाये।

माता-पिता का चुनाव तो सब प्रकार की योग्यता देखकर प्रतिष्ठाधारों को ही करना चाहिए। स्वयं उत्सुकता प्रदर्शित करना अच्छी बात नहीं है।

आठ-दस वर्ष पहले की बात है कि एक सेठगी मेरे पास आये और कहने लगे कि अगले पंचाखाण्ड में मुझे भगवान के माँ-बाप बनने का अवसर देना।

मैंने कहा - "इसका निर्णय तो प्रतिष्ठाधारिये ही करते हैं?
"वे बोले - "मैंने उससे भी कहा है। वे आपके ही तो शिष्य हैं। अतः आपके कान में भी बात डाल देना चाहता हूँ।"

मैं चुप रह गया।

अनेक वर्षों बाद मेरे पास आये और बड़े झोल में बोलने लगे -
"आप सब ......................."

मैंने कहा - "क्या हुआ? इतने नाराज क्यों हो रहे हो?
उन्होंने बताया कि अनेक बार भावना प्रदर्शित कर देने पर भी मैं अभी तक भगवान का माँ-बाप नहीं बन पाया हूँ। आपके प्रतिष्ठाधारिये सुनते ही नहीं। आप ही कोई विधि बताइये न।

विनम्रता से समझाते हुए मैंने उनसे कहा कि मैं क्या कर सकता हूँ?
मैंने शास्त्रों में भगवान बनने की विधि तो पढ़ी है, पर भगवान के बाप बनने की विधि कहाँ नहीं देखी। अतः मैं आपको क्या बता सकता हूँ?
दुःख की बात यह है कि सभी को भगवान का बाप बनाना है, भगवान कोई नहीं बनना चाहता। अनन्त आनंद तो भगवान बनने में है, भगवान के माता-पिता बनने में नहीं। भगवान के माता-पिता बने बिना भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, पर भगवान बने बिना मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः सभी को भगवान बनने की ही भावना भानी चाहिए।

यदि भगवान को अपने आँगन में पधराना है, बुलाना है तो हमें उनके आने योग्य वातावरण बनाना होगा, स्वर्य को भी इस योग्य बनाना होगा कि जिनके बीच भगवान पधार सकें। यदि हम अपने को इस योग्य बना सकें तो भले ही सिद्धिशिला छोड़कर भगवान यहाँ न पठारें, पर हम स्वयं ही भगवान बन जायेंगे, हम में से ही कोई पात्र जीव अपने पौरुष को संभालकर भगवान बन जायेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि चौथेकाल जैसा वातावरण इस पंचमकाल में कैसे संभव है ? कहाँ से लावें नाभिराय जैसे पिता और मरुदेवी जैसी माता ? असली सौंधर्म इन्द्र तो हमारे पंचकल्याणक में आने से रहा, हमें तो जैसे जो उपलब्ध हैं, उन्हें से चुनने हैं और उन्हें ही इन्द्र बनाने हैं, राजा बनाने हैं।

हाँ, यह बात सही है कि हम चौथे काल को पंचम काल में नहीं ला सकते और न ही नाभिराय और मरुदेवी जैसे माता-पिता ही मिल सकते हैं, पर उनमें शास्त्रानुसार तत्संबंधी न्यूनतम योग्यता तो होनी ही चाहिए। जब हम किसी ऐतिहासिक या पौराणिक नाटक को स्टेज पर प्रस्तुत करते हैं तो हमें तत्कालीन क्षेत्र-काल का वातावरण तो प्रस्तुत करना ही होता है। न सही सदा के लिए और सम्पूर्ण भारतवर्ष का वातावरण उस समय जैसा, पर हमें इस पांडाल के भीतर का वातावरण तो तत्कालीन अयोध्या जैसा बनाना ही होगा, अन्यथा यह पंचकल्याणक असली पंचकल्याणक की असल-नकल भी कैसे होगा?

अपने परिणामों को भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों जैसे बनाने होंगे। न सही सदा के लिए पर, इन आठ दिनों के लिए तो अपने परिणाम
तीसरा दिन

सरल करने ही होंगे, कोमल करने ही होंगे। इसके बिना तो हमारा यह पंचकल्याणक सत्य प्रतिलिपि भी साबित न होगा। ऐसी स्थिति में यथोचित लाभ भी कैसे प्राप्त होगा? यह एक विचारणीय बात है।

यहाँ भी एक प्रश्न संभव है कि आप आठ दिन के लिए ही परिणामों के सुधारने को बात क्यों करते हैं, जीवन भर के लिए परिणाम सुधारने की बात क्यों नहीं करते?

अरे भाई, हम तो यही चाहते हैं कि हम सबके परिणाम जीवन भर के लिए ही सुधरें, पर हमारे चाहने से क्या होता है? यदि प्रतिष्ठाचार्य जीवन भर के लिए प्रतिज्ञाएँ दिलाने लगे तो उन्हें न तो जाप में बैठने के लिए लोग मिलेंगे और न कोई इन्द्र या राजा ही बनेगा। अतः प्रतिज्ञा तो आठ दिन के लिए ही ठीक है।

जब एक बार आठ दिन के लिए हमारा जीवन सदाचारमय हो जायगा; शुद्ध, सरल, सहज व सात्तिक हो जायगा तो हम उसके लाभ से भी अच्छी तरह परिचित हो जाएंगे। अतः ऐसा भी हो सकता है कि फिर हम जीवन भर ही शुद्ध, सात्तिक, सरल व सदाचारी बने रहें।

यदि कोई व्यक्ति बोलता है, तम्बाकू खाता है, चाय पीता है तो उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं इनके बिना रह ही नहीं सकता, पर जब वह आठ दिन इनके बिना रहकर भी स्वस्थ रहता है तो उसमें आत्म-विश्वास जागृत हो जाता है और वह इन यदार्थों को जीवन भर के लिए भी छोड़ देता है।

दिन में बार-बार खाने वाले यह समझते हैं कि एक बार खायेंगे तो कमजोरी आ जाएगी, पर जब आठ दिन तक एक बार ही खाते हैं और एकदम ठीक रहते हैं तो बार-बार खाने से विरक्त ही हो जाते हैं।

एक व्यक्ति जब अपने परिवार में अकेला रह गया तो उसने काशी वास का विचार किया। उसने अपनी इकलौती विवाहित बेटी को पत्र लिखा कि अब जीवन भर काशीवास करना चाहता हूँ। किन्तु काशी जाने के पूर्व आठ
दिन के लिए तुम्हारे पास आना चाहता हूँ। मैं अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ कि मेरी बेटी ससुराल में सुखी हो; उसका दाम्पत्य जीवन सफल तो है? तुम्हें सुखी देखकर मैं चैन से काशीवास कर सकूँगा और मेरा मरण सुधार जायेगा।

पिता का पत्र पाकर पुत्री चिंतित हो उठी; क्योंकि वह तो अपने पति से भी अलग रह रही थी, तलाक की पूरी-पूरी तैयारी थी। उसे चिंता इस बात की थी कि जब पिताजी को यह सब पता चलेगा तो उनका क्या हाल होगा, उनका मरण सुधरेगा कि बिगड़ेगा?

वह उस पत्र को लेकर पति के घर पहुँची तो पति ने देखते ही कहा -

"अब आ गई अकल ठिकाने?"

"अकल ठिकाने नहीं आई, मात्र में ही आई हूँ।" कहते हुए उसने पिताजी का पत्र उसके सामने रख दिया। पत्र पढ़कर पति बोला -

"बोलो, मैं इस मामले में तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ?"

"यही कि पिताजी की खातिर हम आठ दिन प्रेम में पति-पत्नी की तरह रह लें, अन्यथा उन्हें बहुत तकलीफ़ होगी।"

"जब हममें परस्पर प्रेम रहा ही नहीं तो यह कैसे हो सकता है?"

"हो क्यों नहीं सकता, हमें प्रेम से रहना थोड़े ही है, बस प्रेम से रहने का अभिनय करना है।"

"आच्छा तो ठीक है, तुम्हारे बृद्ध पिता की खातिर मैं इतना कहूँगा।" परिणामस्वरूप वे दोनों पति-पत्नी पिताजी को लेने एक साथ स्टेशन पहुँचे। उन्हें लाकर आठ दिन साथ-साथ बड़े ही प्रेम से रहे। जाते समय ट्रेन पर विदा करने भी दोनों साथ-साथ गए।

रवाना होते समय पिता ने दोनों को आशीर्वाद देते हुए अत्यन्त गद्गद भाव से कहा कि अब मेरा अतिम समय शान्ति से गुजरेगा, अब में शान्ति से मर सकूँगा; क्योंकि मैंने अपनी आँखों से तुम दोनों को अत्यन्त स्नेह से रहते देखा है, तुम आदर्श दत्त हो। सदा सुखी रहो, सन्तुष्ट रहो, तुम्हारी
तीसरा दिन

जोड़ी भव-भव में भी बनी रहे। उन्हें क्या पता था कि यह जोड़ी तो अभी एक मिनट में ही बिखुद़ने वाली है। पिताजी की टेन्स रवाना हुई कि पत्नी अपने घर जाने लगी और पति अपने घर। वे आये तो एक साथ थे, पर जाने के लिए अलग-अलग हो गए।

जब पत्नी ने पति को इस सहयोग के लिए धन्यवाद दिया और आभार माना तो पति बोला -

"जब हम दूसरों की खुशी के लिए प्रेम से रह सकते हैं; आठ दिन के लिए ही सही, पर प्रेम से रह तो सकते हैं; अभिनय के रूप में सही, पर शान्ति से रह तो सकते हैं; तो क्या अपनी खुशी के लिए, अपनी सुख-शान्ति के लिए हम एक साथ नहीं रह सकते? अभिनय करते हुए ही सही, पर एक साथ रह तो सकते ही हैं।

दूसरे का मरण सुधारने के लिए जो काम कर सकते हैं, अपना जीवन सुधारने के लिए बही काम क्यों नहीं कर सकते? अभिनय ही सही पर जब आज अभिनय करेंगे तो कल सच्चा प्रेम भी पनप सकता है।"

पत्नी बोली - "क्यों नहीं, अवश्य हो सकता है, सच्चे हदय से प्रयास करने पर क्या नहीं हो सकता?"

जबान से तो इतनी ही बात हुई, शोष बात आँखों ही आँखों में हो गई। दोनों की आँखें गोली हो गईं और वे एक साथ एक ही घर की ओर चल दिये।

इसीलिए तो में कहता हूँ कि आज हम इस पंचकल्याणक में अभिनय करेंगे तो कल कल्याण करने वाले भाषा रूप से परिणामित भी होंगे; आठ दिन के अभिनय ने जिसप्रकार उन पति-पत्नी को जीवन भर के लिए बाँध दिया; उसीप्रकार आठ दिन का हमारा यह सदाचारी, सरल, सहज, जीवन हमारे सम्पूर्ण जीवन को सुधार सकता है। अतः अभी आठ दिन के लिए तो आप अपने को तत्कालीन अविध्यात्मिक जैसा बनाइंगे। हो सकता है कि जो परिणाम आपके इन आठ दिनों में सुधरें, वे जीवन भर के लिए सुधर जायें।
आत्मा के कल्याण करने का सर्वोत्कृष्ट अवसर है यह पंचकल्याणक महोत्सव। यदि इस अवसर पर भी हमारे परिणाम नहीं सुधरे तो फिर कौन-सा अवसर आयेगा ? साक्षात् तीर्थकर्ता तो आपको समझाने के लिए आने से रहे।

भाई, इस निकृष्ट काल में यह सर्वोत्कृष्ट अवसर है। अतः इस अवसर को चौकना योग्य नहीं है। अपने परिणामों को सुधारने का महान अवसर है।

यह पंचकल्याणक महोत्सव अपने कल्याण के लिए ही मनाया जा रहा है। यह भगवान का नहीं, अपना ही महोत्सव है। भगवान का कल्याण तो हो चुका है, पर अभी अपना कल्याण होना बाकी है। इसी का यह महान अवसर है।

आज भगवान की माता को सोलह सपने आये थे, उनके परिणाम निर्मल से निर्मल होते गये थे, उनके गर्भ में ऋषिभदेव का जीव आने आया था। उनके परिणामों को निर्मलता का ही परिणाम समझ इसी आयोध्या में उसी दिन से १५ माह तक रत्नों की वर्षा हुई थी। उन्होंने के क्यों, सम्पूर्ण नगरवासियों के ही परिणाम सुधार गये थे। परिणामस्वरूप सर्वेक्ष भर्तृ का साम्राज्य आ गया था। रत्नों की वर्षा से और क्या होगा ? यही तो होगा, यही हुआ; किसी को कोई आर्थिक कटिबाज़ नहीं रही।

आप सबके परिणाम भी निर्मल होंगे तो समझिये रत्नों की ही वर्षा होगी। खोटे परिणामों का फल तो पत्थरों की वर्षा होता है। जब परिणाम ही खोटे
तीसरा दिन

होंगे तो पत्थरों की वर्षा न होगी तो और क्या होगा? अतः हम सभी अपने परिणामों को सुधारें। धीरे-धीरे परिणामों को निर्मल करें, जिससे स्वयं का तो कल्याण होगा ही, यह महोत्सव भी सफल होगा, सार्थक होगा।

रत्नों की वर्षा भी इन्द्रों ने ही की थी, देवों ने ही की थी, अयोध्यावासियों ने ही की थी। आप भी इन्द्र बन गए हैं न, कुबेर बन गए हैं न? अयोध्यावासी हो गये न? अब आपको ही तो करनी है रत्नों की वर्षा। आप न करेंगे तो कौन करेगा? आप रत्नों की वर्षा में रत्नों को समेटने वाले बनने की न सोचें, रत्नों की वर्षा करने वाले बनें।

सब परिणामों का खेल है। यह पंचकल्याणक महोत्सव भी परिणाम सुधारने का सर्वोत्कृष्ट निमित्त है। आचार्य पूज्यपाद ने इस्लें सम्यंदर्शन का निमित्त कहा है। सम्यंदर्शन भी तो आत्मा के आत्मसम्मुख निर्मल परिणामों का नाम है।

परिणाम भी तो अपरिणामी भगवान आत्मा के आधार से सुधरते हैं। अतः अपने उपयोग को सम्पूर्ण जगत से हटाकर त्रिकाली ध्वज निज भगवान आत्मा पर केन्द्रित कीजिए, भगवान बनने का यही उपाय है। अब राजा-रानी और इन्द्र-इन्द्राणी बनने का विकल्प छोड़कर स्वयं भगवान बनने की भावना को जागृत कीजिए।

इन्द्र-इन्द्राणी और राजा-रानी तो जिनको बनना था, बन गये, आप तो अयोध्यावासी ही बन जाइये और ऐसे सपने सांपें जोखिम की आरंभ कर सकें।

अब कल से पंचकल्याणक के मूल दिन आरंभ होंगे। कल गर्भकल्याणक है। अब आप अपने मानस को ऐसा बनाने का प्रयत्न कीजिए कि ज्यो-ज्यों कार्यक्रम आपे बढ़े, त्यों-त्यों आपके परिणाम भी बढ़ते जायें। इस पंचकल्याणक का समापन निर्वाण के रूप में होगा। हमारे परिणाम भी उसी दिशा में बढ़ने चाहिए। तभी हमारा इस पंचकल्याणक में सम्मिलित होना सार्थक होगा, सफल होगा।
चौथा दिन
गर्भकल्याणक

आज गर्भकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का चौथा दिन और पंचकल्याणक का पहला दिन। गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक - ये पाँच कल्याणक होते से ही इस महोत्सव को पंचकल्याणक महोत्सव कहते हैं।

‘कल्याण करोतीति कल्याणक:’ उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार कल्याण करने वाले को कल्याणक कहते हैं। ये पाँचों ही कल्याणक आत्मा के कल्याण के उत्कृष्ट निमित्त होने के कारण कल्याणक कहलाते हैं। हम सब भी आत्म-कल्याण को करना ही चाहते हैं; इसीलिए हम सब इस पंचकल्याणक में उत्साहपूर्वक भाग ले रहे हैं।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि मोक्ष तो कल्याणस्वरूप है ही, केवलजान भी कल्याणस्वरूप ही है। तप भी कल्याण का कारण है। अतः तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक एवं मोक्षकल्याणक इन तीनों को कल्याणक कहना तो उचित ही है; किन्तु गर्भ में आत्मा और जन्म लेना तो कल्याण के कारण नहीं हैं, पर यहाँ उन्हें भी कल्याणक कहा जा रहा है।

गर्भ में भी सभी आते हैं और जन्म भी सभी लेते हैं। प्रत्येक आत्मा ने अनन्त जन्म-मरण किए हैं और अनन्त दुःख भी उठाये हैं। जो जन्म-मरण दुःखरूप और दुःख के कारण हैं, उन्हें कल्याणस्वरूप कैसे माना जा सकता है? यह एक विचारणे की बात है।

जन्म-मरण तो दोष हैं, उनका अभाव करके ही आत्मा परमात्मा बनता है। जो अठारह दोषों से रहित होते हैं, वे ही वीरतागी कहलाते हैं। अठारह दोषों में जन्म और मरण का नाम सबसे पहले आता है।‘जन्म-मरण तिरंगा
छुधा विसमय भारत खेद। इत्यादि दोषों के नाम गिनाने वाले छन्द में जन्म-मरण का नाम सबसे पहले आया है। जो दोषों में प्रधान हो, ऐसे जन्म को कल्याणस्वरूप कैसे कहा जा सकता है?

हम पूजन की 'ओं हो' में बोलते हैं कि 'जन्मजरामुत्यु विनाशनाय जलं निर्पयामीति स्वाहा।' तात्त्विक यह है कि में जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल चढ़ाता हूँ। जिनके नाश की भावना हम प्रतिदिन भाते हों, उन्हें कल्याणस्वरूप कैसे कहा जा सकता है?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि गर्भ और जन्म का भी उत्सव मनाया जा सकता है तो फिर तीर्थकरों का ही क्यों, हमारा-तुम्हारा क्यों नहीं? क्योंकि गर्भ में तो हम भी आये थे, जन्म भी हमारा हुआ ही था। हमने दीक्षा नहीं ली, हमें केवल ज्ञान भी नहीं हुआ, हमें मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हुई; अतः हमारे ये तीन कल्याणक को मनाये नहीं जा सकते, पर गर्भ और जन्म तो हमारे भी हुए हैं; अतः गर्भ और जन्म के उत्सव तो हमारे भी मनाये ही जा सकते हैं। कुछ लोग इसप्रकार के उत्सव करते भी हैं। बर्धड़े के नाम से इसप्रकार के उत्सव किये भी जाने लगे हैं।

मनुष्य का जन्म लेना तो आज एक समस्या बनी हुई है, सरकार इस बात से परेशान है कि इतने लोग जन्म क्यों ले रहे हैं? जन्मदर कम करने के लिए सरकार परिवार नियोजन के नाम से करोड़ों रुपये खर्च कर रही है, 'हम दो और हमारे दो' का नारा दे रही है; फिर भी हम जन्म का उत्सव मनाये जा रहे हैं, उसे कल्याणस्वरूप कहे जा रहे हैं।

ये हैं कुछ सवाल, जो आज के लोगों के हदय में हिलोरे लेते हैं। इनके संदर्भ में भी विचार किया जाना चाहिए।

अरे भाई, यह तो जन्म-मरण का नाश करने वाले का जम्मूस्वर है। वह जन्म तो कल्याणस्वरूप ही है, जिसमें जन्म-मरण का नाश करने का अपूर्व पुरुषार्थ किया जाता है। हमने भले ही अनन्त जन्म लिए हों, पर जन्म-मरण
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

के नाश करने का पुरुषार्थ किसी भी जन्म में नहीं किया। अतः हमारे जन्म का उत्सव करने योग्य नहीं है। जो जन्म स्वप्न के कल्याण से सार्थक हुआ हो, वही जन्म कल्याणस्वरूप होता है, इसीकारण तीर्थकरों का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया जाता है।

यह उनका अंतिम जन्म था, इसलिए कल्याणस्वरूप हो गया। इसके बाद उनका जन्म नहीं होगा। जन्म नहीं होगा तो मरण भी नहीं होगा; क्योंकि मरण संज्ञा उसी देहावसान की है, जिसके बाद अन्य देह का धारण हो, कहीं अन्यत्र जन्म हो। उस देहावसान को तो निर्वाण या मोक्ष कहते हैं, जिसके बाद जन्म नहीं होता। जन्म-मरण के अभाव का नाम ही निर्वाण है, मोक्ष है।

जिस जन्म के बाद मरण न हो, निर्वाण हो; वह जन्म ही कल्याणस्वरूप है, उसका ही इसप्रकार का महोत्सव मनाया जाता है।

कहा भी है –

सित छटवीं आशाओँ, माँ त्रिशाला के गर्भ में।
अंतिम गर्भावस यही जान प्रणं च च प्रभो॥
तेरस दिन सित चैत, अन्तिम जन्म लियो प्रभु।
नृप सिद्धार्थ निकेत, इत्याय उत्सव कियो॥

अंतिम जन्म और अंतिम गर्भावस ही उत्सव के योग्य हैं। यही कारण है कि तीर्थकरों के गर्भ और जन्म कल्याणस्वरूप माने गये हैं, हमारे-तुम्हारे नहीं; क्योंकि हमें-तुम्हें तो न मालूम अभी कितने जन्म धारण करने हैं, कितनी बार मरना है।

रही हम दो और हमारे दो की बात, सो भाई हमारे तीर्थकर तो आकेले ही होते हैं, उनके कोई सगे भाई-बहिन ही नहीं होते; जब उनके अभिभावक संयम के मार्ग से अपने परिवार को नियोजित रखते हैं, आज के लोगों के समान कृत्रिम साधनों से नहीं।

१. डॉ. भारिल्ल : महावीर पूजन : गर्भ कल्याणक और जन्म कल्याणक के अर्थ।
जन्मकल्याणक की विशेष चर्चा तो कल होगी, आज तो गर्भकल्याणक का दिन है। कल गर्भकल्याणक की पूर्वक्रिया के दिन आपने तीर्थकर की माता के सोलह स्वन देखे थे और आज प्रात: महाराजा नाभिराय ने महारानी मरदेवी को उनका फल बताया - यह भी आपने देखा। यह भी देखा कि माता मरदेवी की छप्पन कुमारियाँ विविध प्रकार से सेवा करती हैं, अथवा देवीयाँ उनका मंगलगान करती हैं, सबप्रकार की अनुकूलता प्रदान करती हैं, उनके चित्त को प्रसन्न रखने के लिए उन्हें अनेक प्रकार के प्रसन्नताकार करती हैं, पहेलियाँ बूझती हैं, तत्त्वज्ञान करती हैं।

अभी तो तीर्थकर का जीव गर्भ में भी नहीं आया कि उसके पहले से ही रत्नों की वर्षा, देवियों द्वारा माता की सेवा और अयोध्या के सभी नागरिकों, माता-पिता एवं विवाहित लोगों को सर्वप्रकार अनुकूलता हो गई है। तीर्थकर प्रकृति जैसे महान पुण्य के साथ कुछ ऐसा भी पुण्य बंध सहज ही होता है, जो अगे-अगे चलकर सर्वप्रकार अनुकूलता प्रदान करता है।

न तो वे अभी भगवन ही बने हैं और न तीर्थकर नामक कल्याणक की प्रकृति का भी उदय आया है, तरह-तरह गुणस्थान में ही भगवता प्रकट होगी, सर्वज्ञता प्रकट होगी और तरह-तरह गुणस्थान में ही तीर्थकर प्रकृति का उदय भी आयेगा, तब तक तो तीन-तीन कल्याणक हो चुके होंगे, फिर भी उनके गर्भ में आने के पूर्व से ही सर्वप्रकार की अनुकूलता बन जाती है, इत्य और देवता सेवा में हाजिर रहते हैं, पाण्डुकिश्ला पर जन्माभिषेक होता है।

यहाँ एक प्रसन्न उपस्थित होता है कि क्या वे जन्म से भगवान नहीं थे, जन्म से ही तीर्थकर नहीं थे? यदि ऐसा है तो फिर लोग ऐसा क्यों कहते हैं, कि भगवान गर्भ में आये, भगवान का जन्म हुआ, भगवान ने दीक्षा ली आदि।

भाई, यह सब तो व्यवहार के वचन हैं। यह तो तुम जानते ही हो कि भगवान तो उसे कहते हैं, जो सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी हो।
आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचर में लिखते हैं -

"आतेनोचिन्न दोषेण सर्वज्ञेनामेशिना
भवित्वं नियोगेन नान्यथा हृदापता भवेत्।।

जो वीतारागी, सर्वज्ञ और हितारपदेशी हो; वही सच्चा देव (भगवान) है,
आपत है; क्योंकि इसके बिना आपता संभव नहीं है।"

पूर्ण वीतारागता, सर्वज्ञता और पूर्ण हितारपदेशीशिपना तो तेरहवें गुणस्थान
में ही प्रकट होता है तथा तीर्थकर प्रकृति का उदय भी तेरहवें गुणस्थान में
ही होता है। कोई भी प्रकृति उदय में आने से पूर्व कार्यकारी नहीं होती। सत्ता
में तो किसी मनुष्य के नरकायु भी पड़ता रह सकता है, पर उसे नारकी तो
नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसे नारकी मानने पर मनुष्य नहीं माना जा
सकेगा। ऐसा होने पर भी भाविनेगमनय से उसे नारकी भी कह दिया जाता
है; उसी प्रकार भाविनेगमनय से ही जन्म के समय भी इन्हें तीर्थकर और
भगवान कह दिया जाता है।

यदि उन्हें जन्म से ही भगवान माना जाएगा तो फिर भगवान के जन्म के
समय भगवान की शादी भी माननी पड़ेगी, जबकि भगवान के जो सर्वोत्कृष्ट
भक्त हैं, ऐसे मुनिराज भी ब्रह्मचारी होते हैं तो फिर भगवान शादीशुदा कैसे
हो सकते हैं?

व्यवहार से हम कुछ भी कहें, पर निश्चय से तो सभी को यही जानना
मानना चाहिए कि भगवत्ता तो केवलज्ञान होने पर ही प्रकट होती है। हमें
वचनों का व्यवहार भी सावधानी से करना चाहिए, जिससे व्यवहार के भ्रम न
फैलें। हमारे प्रतिष्ठाचार्यों की बात आप ध्यान से सुनने तो वे यही कहते
मिलेंगे कि तीर्थकर का जीव माँ के गर्भ में आया, वालक का जन्म हुआ,
जिसका नाम ऋषभ रखा गया, राजकुमार ऋषभ की शादी हुई, युवराज ऋषभ
का राजतिलक हुआ, महाराज ऋषभ ने दीक्षा ली, मुनिराज ऋषभ को
केवलज्ञान हुआ एवं भगवान ऋषभदेव को मोक्ष की प्राप्ति हुई।
चौथा दिन

यहीं शोभा भी देता है; क्योंकि इसमें आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास स्पष्ट प्रतिभासित होता है। फिर भी यदि कोई भगवान का जन्म आदि शब्दों का प्रयोग करता है तो यह सोचकर समाधान कर लेना चाहिए कि यह भाविन्यगमनय से कह रहा है।

वस्तुतः बात तो ऐसी है कि जन्म तो बालक का ही होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म के समय तो हर व्यक्ति बालक ही होता है। राजा का जन्म नहीं होता, प्रधानमंत्री का भी जन्म नहीं होता, पर लोक में कहा तो ऐसा ही जाता है कि राजा दशरथ का जन्म अमुक दिन अमुक राजा के घर हुआ था। अथवा हमारे प्रधानमंत्री का जन्म अमुक दिन हुआ था। जन्म के समय न तो दशरथ राजा थे और न जन्म के समय हमारे आज के प्रधानमंत्री भी उस समय प्रधानमंत्री ही थे। हम कहें कुछ भी, पर यह बात हम भलीभाँति जानते हैं। पर न मालूम तीर्थकर और भगवान के संदर्भ में क्यों भूल जाते हैं और उन्हें जन्म से ही भगवान या तीर्थकर मानने लगते हैं, जिससे बहुत बड़ी सैद्धांतिक भूल हो जाती है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आप तो कहते हैं कि स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पशु भी परमेश्वर हैं; अतः हम उन्हें स्वभाव से भगवान मानकर भगवान शब्द का प्रयोग करें तो क्या आपत्ति है?

कुछ नहीं, पर इसप्रकार तो उन्हें ही क्यों, आप स्वयं को भी भगवान शब्द का प्रयोग कर सकते हैं; क्योंकि स्वभाव से तो सभी भगवान ही हैं। वस्तुतः बात ऐसी है कि शब्दों का व्यावहारिक प्रयोग स्वभाव के आधार पर नहीं, पर्याय के आधार पर होता है। जब हम पर्याय में भी सर्वज्ञ-वोंतारीण भगवान बन जायेंगे, तभी उन्हें भगवान कहा जा सकता है। यदि अभी कहते हैं तो वह कथन भाविन्यगमनय का ही होगा。

समझने की बात तो यह है कि राजा ऋषभदेव ने दीक्षा भगवान बनने के लिए ही तो लो थी। यदि वे भगवान थे ही तो दीक्षा की क्या आवश्यकता
थी? अतः जब दीक्षा की बात आवे तो यही कहना ठीक है कि राजा ऋषभदेव ने दीक्षा ली। दूसरी बात यह भी है कि तुम मन में भले ही सोच लो कि हम तो भगवान शब्द का प्रयोग स्वभाव की अपेक्षा कर रहे हैं, पर जगत तो उसे पर्याय की अपेक्षा ही समझता है और इससे एक अन्य की परम्परा चल सकती है।

जैसे लोग कहते हैं कि भगवान ऋषभदेव ने युग की आदि में लोगों को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि में प्रशिक्षित किया। तो क्या भगवान तलवार चलाना भी सिखाते हैं, खेती करना भी सिखाते हैं, व्यापार करना भी सिखाते हैं? वर्तमान: यह सब तो उन्होंने राजा की अवस्था में ही किया था। अतः यही कहना ठीक है कि राजा ऋषभदेव ने असि, मसि आदि का उपदेश दिया; क्योंकि भगवान का दिया उपदेश तो सर्वग्राह होता है तो क्या सभी धार्मिक जनों को असि-मसि आदि कार्य करना आवश्यक है? क्या ये कार्य धर्मकार्य हैं? भगवान तो केवल धर्मोपदेश देते हैं, धंधे-पानी का उपदेश नहीं। उनकी जो दिव्यध्वनि खिरी, वही भगवान ऋषभदेव का उपदेश है, उसके पूर्व उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह सब राजा ऋषभदेव की कथनी है, जो मुक्तिमार्ग में आवश्यक नहीं। मुनि दीक्षा लेने के पूर्व जो भी कथनी व करनी है, वह सब राजा ऋषभदेव की मानकर ही विचार करना चाहिए। केवलज्ञान होने के बाद जो दिव्यध्वनि खिरी, वह सब भगवान ऋषभदेव का उपदेश है, जो कि मुक्ति के मार्ग में पूर्णतः आचरणीय एवं माननीय है।

गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक एवं दीक्षाकल्याणक के जो उत्सव इन्द्रों द्वारा, देवों द्वारा या नागरिकों द्वारा सम्पन्न होते हैं, उनमें तौर-कर प्रकृति निमित्त भी नहीं हैं; क्योंकि कोई भी प्रकृति उदय में आने के पूर्व किसी कार्य में निमित्त नहीं हो सकती। तौर-करों को तौर-कर प्रकृति के साथ अविनाशित रूप से इस्प्राकर के अन्य पुण्य का बंध होता है, जो उदय में आकर इन महोत्सवों का निमित्त बनता है।
इत्तदादि अवधिज्ञान आदि से यह जानकर कि ये तीर्थकर और सर्वज परमात्मा होने वाले हैं और इनके द्वारा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होगा, भक्तिभाव से ये सभी उत्सव करते हैं। हम सब भी इसी भक्तिभाव से इस महोत्सव में सम्मिलित हुए हैं। अपने कल्याण के साथ-साथ जगत के कल्याण की भावना भी इस महोत्सव के मूल में है।

मूलतः: तो हम सब आत्मकल्याण की भावना से ही इस पंचकल्याणक में सम्मिलित हुए हैं; अतः हमें अपनी भावनाओं को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारने से आपके परिणाम निरंतर निर्मल हो भी रहे हैं। इसका अनुभव आप स्वयं भी कर रहे होंगे। हम तो कर ही रहे हैं। आप जितने उल्लास से भाग ले रहे हैं, जितने समर्पित भाव से योगदान कर रहे हैं; उससे प्रतीत होता है कि आपकी भावनाओं में निर्मलता बढ़ी है। आपके समय और श्रम का सदुपयोग हो रहा है, ऐसे का सदुपयोग हो रहा है।

मान लो आप यहाँ न आये होते, पंचकल्याणक में शामिल न हुए होते, इत्तद् न बने होते तो आप अभी कहाँ होते, क्या कर रहे होते? जरा इसकी कल्पना करके देखिये। दुकान पर बैठे होते, ग्राहक पता रहे होते, टी.वी. देख रहे होते या कुछ खा-पी रहे होते, चाय-पानी कर रहे होते या कहाँ बैठे-बैठे गप-सप कर रहे होते। ये सब काम तो पाप के ही काम हैं, पाप बंध के ही कारण हैं।

आप यहाँ आ गये हैं तो शान्तिपूर्वक बैठकर भगवान का गुणानुवाद कर रहे हैं, तत्त्वचर्चा सुन रहे हैं, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से अपने तत्त्वज्ञान को निर्मल कर रहे हैं, पंचकल्याणकों के दृश्य देखकर अपने परिणामों को निर्मल कर रहे हैं। ये सब पुप्पकार्य हैं, पवित्र कार्य हैं, पुप्पबंध करने वाले कार्य हैं, सद्धर्म की वृद्धि करने वाले कार्य हैं, सद्धज्ञान प्राप्ति के मंगल कार्य हैं।
आप जो तैसा इस पंचकल्याणक में खर्च कर रहे हैं, इन्द्र बनने में कर रहे हैं, मंदिर बनवाने में खर्च कर रहे हैं, साधनाओं की सेवा में खर्च कर रहे हैं, जिन्हें अक्षर-प्रसार में खर्च कर रहे हैं; यदि यह पैसा इसमें खर्च नहीं करते तो किसी खर्च करते?

सोचिए, जरा सोचिए न; मकान बनवाने में कर रहे होते, लेट्रिन-बाथरूम में टाइलंजड़वाने में कर रहे होते, भक्ष्याभक्ष्य भक्षण में कर रहे होते, धूमने-पिरने में कर रहे होते, भोग-विलास में कर रहे होते, पंचेन्द्रियों की विगत सामग्री जुटाने में कर रहे होते, कषारों के पोशाक में खर्च कर रहे होते।

यहाँ आपने से आपके समय का सदुपयोग हो रहा है, शक्ति और श्रम का सदुपयोग हो रहा है, पैसे का भी सदुपयोग हो रहा है, परिणाम भी निर्मल हो रहे हैं, इससे अधिक और क्या चाहिए आपको?

हाँ एक बात अवश्य है कि इतने से ही संतुष्ट मत हो जायें, अपने भगवान आत्मा को जानने-पहचानने में भी उपयोग को लगाईये; क्योंकि इस पंचकल्याणक में पधारने का असली लाभ तो निज भगवान आत्मा को जानकर-पहचान कर, उसी में जमकर-रमकर भगवान बनने की प्रक्रिया स्वयं में आरम्भ कर देने में है। अतः स्वयं भगवान बनने की प्रक्रिया समझने में उपयोग लगाइये।

सम्पूण्य जगत के जीव आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करें, इस वातस्लय भावना से ही तीर्थ्कर प्रकृति का बंध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही तीर्थ्कर के इसप्रकार का योग बनता है कि उनके धर्मपदेश से लाखों जीव आत्मकल्याण के पावन पथ पर चल पड़ते हैं। उन सौभाग्यशालियों में हम भी सम्मिलित हों – इस मंगल भावना से ही आप सब पढ़ते हैं; अतः आप सब इस पावन प्रसंग से अपने मन को निर्मल बनाकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशास्त करें – यही मंगल भावना है।
पाँचवाँ दिन

जन्मकल्याणक

आज जन्मकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का पाँचवाँ दिन और पंचकल्याणक का दूसरा दिन। आज आपने ऋषभदेव के जन्मोत्सव का महान उत्सव देखा है और पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक भी देखा है, किया है। सभी मार्मिक दृश्यों को देखने के साथ-साथ प्रतिष्ठाचार्यजी से बहुत कुछ सुना है, समझा भी है।

इस अवसरपूर्णकाल के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी, जिसे पांच कल्याणकों के रूप में पाँच दिन में विभाजित कर प्रस्तुत किया जाता है। गर्भकल्याणक का दिन तो लगभग 9 माह का ही था, पर यह जन्मकल्याणक का दिन 83 लाख पूर्व का है। जन्मकल्याणक का अर्थ मात्र जन्म दिन से ही नहीं है; अपितु जन्मकल्याणक के दिन ही वे सभी चीजें प्रस्तुत की जाती हैं, जो दीक्षा लेने के पूर्व तक घटित होती हैं। जैसे पालना झूलन, युवराज पद की प्राप्ति, राज्याभिषेक आदि। ऋषभदेव 20 लाख पूर्व तक तो कुमार अवस्था में रहे और उसके बाद 63 लाख पूर्व तक राज किया। इसी बीच शादी-विवाह, पुनर्ग्रहण आदि सभी प्रसंग बने। आज के दिन ही उन सभी मार्मिक प्रसंगों की चर्चा करनी है, जिनसे हमें कुछ सीखने-समझने को मिलता है।

आज का यह एक दिन 83 लाख पूर्व को अपने में समर्पित हुए है।

जब राजकुमार ऋषभदेव युवावस्था को प्राप्त हुए तो उनके माता-पिता को उनके विवाह करने का विकल्प आया। वे सोचने लगे कि ऋषभ तो एकदम आध्यात्मिक प्रकृति के युवक हैं, रागरंग में उनका मन लगता ही नहीं है, वे तो निर्देश आराध्यजीन में ही रत रहते हैं। उन्हें विवाह करने के लिए राजी करना आसान बात नहीं है। लगता तो ऐसा है कि वे शादी करेंगे ही नहीं। फिर
भी हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उन्हें शादी करने के लिए प्रेरित करें, उनके योग्य बधू की तलाश करें; फिर जो होना होगा, होगा तो वही।

महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी ने परस्पर विचार-विमर्श करके राजकुमार ऋषभदेव से शादी करने के सन्दर्भ में चर्चा करने का निश्चय किया।

नाभिराय बोले — "ऋषभ बहुत ही बुद्धिमान और विवेकी राजकुमार हैं। उनसे तर्क-विचार में जीतना तो आसान नहीं है, फिर भी हमें उन युक्तियों पर विचार कर लेना चाहिए, जिनके आधार पर उन्हें शादी के लिए राजी किया जा सके।"

महारानी मरुदेवी बोली — "तुम्हारे तर्क-विचार से कुछ भी होने वाला नहीं है, उनके हदय को तो भावुकता से ही मोड़ा जा सकेगा। हजारों तर्क-विचार जहाँ निष्फल हो जाते हैं, हदय को पिघला देने वाली भावनाओं का उद्वेग वहाँ भी रास्ता निकाल लेता है। अत: मैं तो उसे भावना के वेग में ही बहाऊँगी। मुझे विश्वास है कि मेरी आत्मार्थक भावना अवश्य सफल होगी। माँ की ममता को कौन दुःख कर सकता है?"

"बात तो तुम ठीक ही कहती हो, क्योंकि नारियों की सबसे बड़ी शक्ति ही भावावेग है; पर तुम यह क्यों भूल जाती हो कि भावावेग का यह शस्त्र भी रागियों पर ही चलता है, वैरागियों पर नहीं। यदि वैरागी भी इससे परस्पर होने लगते तो अब तक कोई दीक्षा ही न ले पाता; क्योंकि इस शस्त्र का प्रयोग तो प्रत्येक माँ करती है, पत्नियाँ भी करती हैं, पर असली वैरागी को तो आज तक न तो कोई माँ रोक सकी है और न कोई पत्नी। विवेकी वैरागियों पर न तर्क का वश चलता है और न वे भावनाओं के वेग में ही बहते हैं। अत: ऋषभ पर न तो तुम्हारी भावनाओं का असर होना है और न मेरे तर्कों का।"

"तुम तो हमेशा निराशा की ही बात करते हो। कुछ भी हो, हमें समझाना तो होगा ही, बात तो करनी ही होगी। हो सकता है, वह हमारी बात मान ही ले, हमारे दिल को न तोड़े।"
“बात तो करनी ही है; क्योंकि यह हमारा कर्तव्य भी है कि हम उसके विवाह की व्यवस्था करें, तदर्थ प्रयत्नपूर्वक उसे राजी करें। प्रत्येक माँ-बाप का यह कर्तव्य है कि वह अपनी संतान की समुचित शिक्षा-दीक्षा के बाद उसकी शादी करें, उसे गृहस्थान में नियोजित करें। हमें भी अपने इस कर्तव्य का पालन करना ही है, पर व्यर्थ की कलपनाओं के पुल बाँधना अच्छा नहीं है; क्योंकि यदि वह शादी के लिए राजी न हुआ तो फिर अधिक संक्लेश होगा। अत: सहजभाव से ही अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।”

“तुम तो पहले से ही यह मानकर चल रहे हो कि ऋषभ शादी के लिए राजी होगा ही नहीं, तो फिर तुम जोर भी कैसे दोगे ? तुम्हें अपने तक्कौं पर भरोसा ही नहीं है; जिसे अपने शस्त्रों पर ही भरोसा न हो, उसकी हार तो निश्चित ही है।”

“तुहें तो अपने हथियार पर पूरा भरोसा है न ? युद्ध के मैदान में में तो अकेला थोड़े ही जा रहा हूँ, तुम भी तो हो साथ में; यदि में हार भी गया तो क्या होता है, तुम्हारे विश्वास के अनुसार तुम तो जीतोगी हो। तुम जीती तो में भी जीता, क्योंकि हमारी-तुम्हारी जीत-हार कोई अलग-अलग थोड़े ही है।”

“तुम्हारे तर्क से तो में जीत नहीं सकती, पर अब चलो भी, जो होगा सो देखा जायेगा। पुत्र से क्या जीतना और क्या हारना ? पुत्रों से जीतने में तो जीत ही है ही, हारने में भी जीत ही है, यहाँ तो जीत ही जीत है, हार है ही नहीं; निराश मत होओ, चलो, जल्दी चलो।”

“इतनी जल्दी भी क्या है, मुझे अपने तर्क-वितर्क को व्यवस्थित कर लेने दो; में भी आसानी से हार मानने वाला नहीं हूँ। अंत में जो भी हो, पर में अपनी बात पूरी शक्ति से तो रखूँगा ही।”

“जाने भी दो, क्यों श्रम करते हो, अंत में तो मेरे आँसू ही काम आयेंगे।”
“हाँ भाई, चलो। पर यह याद रखना कि जिसके पास विवेक की बात है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैयक्त का बल है, उस पर आँखों की बौछारों का कोई असर नहीं होता। हमारा ऋषभ विवेक का भी धनी है और वैयक्त के बल से भी सुसज्जित है।”

इसप्रकार वे दोनों जने हार-जीत की संकाम-आरंभाओं में दूबते-उतरते हुए ऋषभ के कवर की ओर जा ही रहे थे कि देखते हैं कि राजकुमार ऋषभ को इधर ही आ रहे हैं।

“आओ, पुत्र ऋषभ ! हम तुम्हारे पास ही आ रहे थे। एक बहुत जरूरी बात करनी है।”

“आज्ञा दीजिए तात ! आपकी प्रसन्नता के लिए मुझे क्या करना है ?”

“यहाँ खड़े-खड़े बात थोड़े ही होगी, बड़ी ही गंभीर बात है। लम्बे विचार-विमर्श की जरूरत है, चलो तुम्हारे कवर में बैठकर शान्ति से बात करेंगे।”

“चलिये, आगे आप चलिये।”

इसप्रकार वे सभी राजकुमार ऋषभ के कवर में जा पहुँचे और लम्बी भूमिका बांधते हुए नाथिराय समझाने लगे कि — “बेटा अब तुम जोयान हो गये हो, सब प्रकार सुयोग्य हो; हम जानते हैं कि तुम्हें इस संसार में कोई रस नहीं है, तुम तो आत्मा में लीन होना चाहते हो; पर गृहस्थी में भी यह सब तो हो सकता है, गृहस्थ भी एक धर्म है, हमारी कामना है कि अब तुम गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो।”

नाथिराय ने बड़ी चुतुराई से अपनी बात रखी थी। वे जानते थे कि शादी की बात से तो ऋषभ का चित्र बातचीत से ही विरल हो जाएगा। ऋषभ की धर्मशुचि देखकर उन्होंने शादी की बात भी ‘गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो’ — इस भाषा में रखी थी। पर ऋषभ जैसे प्रजा के धनी राजकुमार को उनके अभिप्राय को समझते देर न लगी, पर वे कुछ बोले नहीं।
पाँचवाँ दिन

अपनी बात को आगे बढ़ते हुए नाभिराय आगे कहने लगे कि -
"तुम्हारी माँ की कामना तो तुम्हें पूर्ण करनी ही होगी। हमने तुम्हारे लिए एक से एक सुन्दर अनेक कन्यायें देखी हैं। बस तुम्हारी हाँ करने की देर है।"

"ठीक है, जैसी आपकी इच्छा" - कहते हुए ऋषभदेव बाहर चले गये।

इतनी आसानी से ऋषभ की ‘हाँ’ सुनकर नाभिराय और महदेवी चिंतित रह गये।

माँ महदेवी कहने लगी कि - "हम तो सोचते थे कि उसे यह बात स्वीकृत कराने में दौँ-पसौना एक करना होगा, पर यहाँ तो कुछ करना ही न पड़ा, मानो वह हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा ही कर रहा था। हमने इतने दिनों से कोई बात क्यों नहीं की, हमें तो बहुत पहले यह प्रस्ताव करना था। उसने तो औपचारिक ‘ना’ भी नहीं कही। उसके ऊपरी वैराग्य को देखकर हम तो यह समझने लगे थे कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, पर सो जाना।"

बीच में ही टोकते हुए नाभिराय बोले - "तुम समझती तो हो नहीं, महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। ‘मन में हो और मूंड हिलावे’ वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

यदि ऋषभ ने औपचारिक भी ‘ना’ नहीं की तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसीप्रकार उनकी तत्त्वरूचि और वैराग्य भी ऊपरी नहीं है, गृहस्थ की भूमिकानुसार ही हैं। गृहस्थ धर्म में ऐसा ही होता है, अंतरंग रूचि भी रहती है, उचित वैराग्य भी रहता है और भूमिकानुसार राग भी होता ही है।

उनकी यह वृत्ति और प्रवृत्ति तो उनके योग्य ही है, हमने ही उन्हें समझने में भूल की थी। लोक में ऐसा बहुत होता है कि सहज तत्त्वरूचि एवं समुचित वैराग्य को देखकर लोग उनसे अधिक आपेक्षा करने लगते हैं, पर जब वैसा नहीं देखते हैं तो रूचि और वैराग्य को ऊपरी मानने लगते हैं।
महापुरुषों के मन को जानने के लिए भी उन जैसा ही सूक्ष्म मन चाहिए।

देखो, नाभिराय की यह बात कितनी वजनदार है; क्योंकि अभी तो ऋषभदेव को ६३ लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहना है, राजकाज संभालना है; अभी से उनके दीक्षित होने की कल्पना उनके वर्तमान मानस का सही आकलन नहीं था। तात्पर्य यह है कि गृहस्थी में रहकर भी ऋषभदेव जैसी तत्त्वरुचि और वैराग्य संभव है।

बात तो यहाँ तक पहुँची कि जब राजा ऋषभदेव ८३ लाख पूर्व की आयु को भी पूर्ण कर चुके और दीक्षित नहीं हुए तो इद्र को भी यह चिंता होने लगी कि ये तो गृहस्थी में ही रमे हैं, इनसे तीर्थ की प्रवृत्ति कब होगी? अब आयु ही कितनी बची है, बस एक लाख पूर्व। ऐसा कोई प्रयास किया जाना चाहिए, जिससे इसमें वैराग्य हो, ये दीक्षा ग्रहण करें, इन्हें केवलज्ञान हो, इनकी दिव्यध्वनि खिरे और इनके धर्मोपदेश से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हो।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक लाख पूर्व क्या कम होते हैं? पर भाई जिनकी ६४ लाख पूर्व आयु हो, उनके लिए तो कम ही हैं। आप कल्पना कीजिए कि उनकी आयु ६४ लाख पूर्व नहीं, ८४ वर्ष की थी, जिसमें ८३ वर्ष समाप्त हो गये, मात्र एक वर्ष बचा। अब आप ही सोचिए कि क्या तीर्थ प्रवर्तन के लिए एक वर्ष पर्याप्त है? अतः इद्र का चिन्तित होना नयाभाविक ही है।

यहाँ बात तो यह चल रही है कि जिन्हें अभी ६३ लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहना है, उनकी बृत्ति व प्रवृत्ति देखकर हम यह समझ लें कि ये तो शादी ही न करेंगे, शीघ्र ही दीक्षित होंगे, यह आकलन सही तो नहीं है।

जब इद्र ने उन्हें वैराग्य दिलाने का उपाय सोचा तो उन्हें विरक्त करने के लिए अल्पायु नीलांजना को भेजा। नीलांजना की चर्चा तो कल दीक्षाकल्याणक के दिन होगी, पर यहाँ तो मात्र इतना बताता है कि ८३ लाख पूर्व की आयु में भी ऋषभ देवांगनाओं का नृत्य देखा करते थे।
भाई, एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अंतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्प्रदायता सौधम इत्यादि और कहाँ स्वार्थसंदिग्ध के क्षायिक सम्प्रदायता अहंमन्त्र। सौधम इत्यादि तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में तानाशाह नृत्य करता है और स्वार्थसंदिग्ध के अहमिन्द्र दीपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

संयोग और संयोगीभावों में महान अंतर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अत: संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

एक और तो ऋषियों के साक्षात्कार में ही ऐसी प्रकृति कि माँ-बाप को भी यह भ्रम हो जाय कि यह शादी ही न करेगा और दूसरी ओर 83 लाख पूर्व की वृद्धावस्था में नीलांजना का नृत्य देखना - क्या इसमें कुछ विरोधाभास नहीं लगता?

इसमें कुछ भी विरोधाभास नहीं है, मात्र भूमिका की सही जानकारी नहीं होना ही भ्रम उत्पन्न करता है। माता-पिता के अंत अनुराग में भी ऐसा हो सकता है। मेरा पुत्र दीक्षित न हो जाय - यह आशंका उनके चित्र को इतना अधिक विचलित कर देती है कि उन्हें अपने पुत्र की जरा-सी वैराग्यवृत्ति सशंक कर देती है। नाभिराय और महर्दवी का यह सोचना कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, मात्र उनके अंत अनुराग को ही सूचित करता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

उत्कृष्ट वैराग्यवृत्ति सदाचारी जीवन में भी उन्हें शादी करने का सहज राग था ही, तदनुसार ही उन्होंने हाँ की थी। माता-पिता के अनुरोध के कारण उन्होंने शादी की स्वीकृति, इच्छा नहीं होते हुये भी दे दी थी - यह बात कदापि नहीं थी। महापुरुषों की ‘हाँ’ को कोई ‘ना’ में नहीं बदल सकता और न ‘ना’ को ‘हाँ’ में ही बदल सकता है।
तीर्थकर ऋषभ के जन्म से सौधम इन्द्र इतना आनंद विभोर हो उठता है कि वह नाचने लगता है। अतिशय भक्ति में बिना कायर्क्रम के ही नाच उठना अलग बात है और सुनियोजित भीड़ के सम्पूर्ण अपनी कला प्रदर्शन के लिए नाचना अलग बात है; दोनों में मुहर-कोड़ी का अन्तर है। इस मुद् जगत को प्रसन्न करने के लिए तो वेश्यायें नाचा करती हैं। भक्ति में विभोर होकर जब हमारा मन मयूर नाच उठता है तो कदाचित् तन भी नाचने लगता है।

लोग कहते हैं कि ‘जंगल में मोर नाचा, किसने देखा?’ पर मोर को यह अपेक्षा ही कहाँ है कि कोई उसके नृत्य को देखे। बल्कि बात तो ऐसी है कि यदि मोर को यह अनुभव हो जाये कि कोई उसे देख रहा है तो वह नाचना ही बंद कर देगा; क्योंकि वह किसी को दिखाने के लिए नहीं नाचता है। उसका नृत्य तो आकाश में बादलों को देखकर होने वाले प्रमुखतम मन का परिणाम है। वह तो स्वान्त:सुखाय ही नाचता है, किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं। उसका नृत्य तो उसके हृदय की प्रसन्नता का परिणाम है, न कि किसी अन्य को प्रसन्न करने के लिए।

ज्ञानियों की भक्ति भी उनके प्रमुखतम मन का परिणाम होती है, किसी अन्य की प्रसन्नता के लिए नहीं। इन्द्र भी सहज भक्तिवश नाचता है, प्रदर्शन के लिए नहीं। तीर्थकर ऋषभ का जन्मकल्याणक देखकर हमारा मन मयूर नाच उठे तो हम भी नाचें, कोई हानि नहीं; पर जगत के लक्ष्य से नृत्य करना भक्ति नहीं है।

प्रदर्शन की भावना से नाचने वाले लोग भगवान की ओर उन्मुख होकर नहीं नाचते, बस तो जनता की ओर उन्मुख होते हैं, भले ही भगवान की ओर उनकी पीठ ही क्यों न हो जाये। उन्हें इतना भी विवेक नहीं रहता; क्योंकि उनका लक्ष्य तो जनता को बाहेर नहीं। उनके हृदय में भक्ति का परिणाम भी कहाँ है, वहाँ तो यश की कामना ही हिलौते लेती नजर आती है।
हमारे इन पंचकल्याणकों में मंच पर पिछले पद्गे के पीछे अप्रतिष्ठित जिनप्रतिष्ठाएँ विराजमान रहती हैं और अगले पद्गे के सामने अप्रतिष्ठित जनता। दोनों पद्गे के बीच कुछ प्रतिष्ठित लोग बैठे रहते हैं, जो निर्दर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने या प्रतिष्ठा बढ़ाने के चक्कर में रहते हैं। प्रतिष्ठा महोत्सव के माध्यम से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के व्यापोह में फंसे इन लोगों से में विनम्र अनुरोध करना चाहता हूं कि यह तो जिनप्रतिष्ठाओं की प्रतिष्ठा का महोत्सव है, इसे अपनी प्रतिष्ठा का साधन बनाना ठीक नहीं है। अपने हदय में आत्मभावना प्रतिष्ठित करने का यह अमूल्य अवसर है; अतः इस अवसर पर तो अपने परिणामों को सरल उ सहज बनाने का यत्न किया जाना चाहिए।

आज तक का समय राग-रंग का था, नाच-गाने का था, सो आपने खूब नाच-गा लिया, अब कल से वैराग्य का प्रसंग आ जाएगा। आपका यह नाचना-गाना सब बन्द हो जाएगा।

गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के दिन जनता की अपार प्रसन्नता के दिन होते हैं, राग-रंग के दिन होते हैं और उसके बाद के कल्याणक वैराग्य और वीतान्तिता के होते हैं। यह महोत्सव राग से वैराग्य की ओर ले जाने वाला महोत्सव है।

जिन पंचकल्याणकों में साधु संतों की उपस्थिति रहती है, उनमें साधु संत गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के उत्सवों में सम्मिलित नहीं होते। वे तो दीक्षाकल्याणक में ही आते हैं। वे कहते हैं कि इन राग-रंग के कल्याणकों में हमारा क्या काम? हम तो वैराग्य के प्रसंग में ही आवेंगे।

मुनिराजों को तो क्या कहें, लोकांतिक देव भी दीक्षाकल्याणक के पहले नहीं आते; क्योंकि वे ब्रह्मचारी होते हैं। ऊपर के आहिम्न्द्र भी नहीं आते; क्योंकि उनके भी प्रविचार का पूर्णत: अभाव होता है। आहिम्न्द्रों के देवांगनाएँ भी नहीं होतीं।
इन्द्र-इन्द्राणियों, राजा-रानियों का एक साथ नाचना-गाना साधु-संतों
को, ब्रह्मचारियों को कैसे सुहाय सकता है? क्योंकि वे तो इस राग-रंग की
भूमिका को पार कर चुके होते हैं।

यह राग-रंग की बात आज तक ही है, कल से सब बंद।

राजा ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थीं - नन्दा और सुन्दरा। नन्दा को
यशस्वी भी कहते हैं। ये दोनों महाराजा कच्छ महाकच्छ की बहिनें थीं।

महारानी नन्दा से भरतादि सो पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री और सुन्दरा
से बाहुबली नामक पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री हुई थी।

जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, वे सम्राट भरत चक्रवर्ती
राजा ऋषभदेव के ही प्रथम पुत्र थे।

राजा ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को तो शास्त्रादि कठोर विद्याओं में निपुण
बनाया; पर अक्षरविद्या और अंकविद्या ब्राह्मी और सुन्दरी को सिखाई। इससे
एक बात तो अत्यन्त स्पष्ट है कि महिलाओं की शिक्षा के संदर्भ में राजा
ऋषभदेव क्या सोचते थे? आज जिसे हम शिक्षा कहते हैं, वह तो मूलतः
तो महिलाओं की ही विद्या है; क्योंकि राजा ऋषभदेव ने ये विद्याओं अपनी
पुत्रियों को ही सर्वप्रथम सिखाई थीं। हमारे दुर्भाग्य से बीच का कुछ समय
ऐसा आया, जिसमें हमारी माँ-बहिनें को शिक्षा से वंचित रखा गया और
कहा गया कि महिलाओं को पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता है?
महिलाओं की शिक्षा का विरोध करने वालों को इस तथ्य की ओर विशेष
ध्यान देना चाहिए।

हमारी लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि भी राजा ऋषभदेव की प्रथम पुत्री के
नाम पर ही रखा गया था; क्योंकि इस अवसरपूर्वी काल में कर्मभूमि के आरंभ
में सर्वप्रथम लिपि का ज्ञान ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मी को ही दिया गया था। अतः
इस लिपि का नाम भी उन्हों के नाम पर चल पड़ा।
कहा जाता है कि राजा ऋषभदेव अपनी दावी जंघा पर ब्राह्मी को और बायें जंघा पर सुन्दरी को बिठाकर एक साथ उन्हें अक्षरविद्या और अंकविद्या का शिक्षण देते थे। यही कारण है कि अक्षरविद्या तो बाईं से दाईं और लिखी जाती है और अंकविद्या ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है; क्योंकि बायें हाथ से ऊपर से नीचे की ओर लिखना ही सुविधाजनक रहता है।

कर्मभूमि की सभी विद्याओं और कलाओं के मूलजनक राजा ऋषभदेव ही हैं। यदि वे युवावस्था के आरम्भ में ही दीक्षित हो जाते तो इन विद्याओं और कलाओं का विकास कैसे होता? वस्तुः तीर्थकर ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक होने के साथ-साथ युग प्रवर्तक भी हैं; हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए।

वह समय युग की आदि का समय था, कर्मभूमि आरम्भ ही हुई थी। लोगों को कर्मभूमि की व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं था। कल्पवृक्ष समाप्त हो गये थे। खान-पान की व्यवस्था श्रम साध्य हो गई थी। लोगों को अनाज उगाने और खाना पकाने की विधि भी ज्ञात न थी। यह सब रूपरेखा भी ऋषभदेव को ही व्यवस्थित करनी थी। अतः उनका लम्बे समय तक राज-काज संभालना युग की आवश्यकता थी।

कर्मभूमि के आदि सृष्टिधार वे ही थे। उनका जीवन और उनके द्वारा दी गई व्यवस्था हमारे गृहस्थ जीवन का मूल आधार है। उनके जीवन में हमें वे सभी उपादान प्राप्त हो सकते हैं; जो हमारे गृहस्थ जीवन को सुव्यवस्थित बना सकते हैं। उनका जीवन हम सबके लिए एक आदर्श जीवन है। हमें अपने जीवन को उनके जीवन के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए।

इसप्रकार यह जन्मकल्याणक के अवसर पर ऋषभदेव के गृहस्थ जीवन की संक्षिप्त चर्चा हुई।

अब कल दीक्षाकल्याणक का दिन है, जिसमें उनके वैराग्यमयी साधुजीवन का दिग्दर्शन होगा।
छठवाँ दिन

दीक्षाकल्याणक

आज दीक्षाकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का छठवाँ दिन और पंचकल्याणक का तीसरा दिन। दीक्षाकल्याणक के सन्दर्भ में तीन बातों पर विचार करना आवश्यक है।

(१) नीलांजना का नृत्य, जिसके कारण ऋषभभद्र ने वैराग्य हुआ था।
(२) चार हजार मुनिराज, जो ऋषभभद्र के साथ दीक्षित हुए थे।
(३) आहारदान, जिसके लिए मुनिराज ऋषभभद्र को ६ माह तक भटकना पड़ा था।

आज प्रातः आपने राजा ऋषभ के दरबार में नीलांजना के नृत्य का दृश्य देखा है। नृत्य करते-करते बीच में ही नीलांजना की मृत्यु हो गई। राजा ऋषभभद्र एवं अन्य दर्शकों के मनोरंजन में विचन उपस्थित न हो; तदर्थ तत्काल वैसी ही अन्य देवांगना प्रस्तुत कर दी गई। लोगों को पता ही न चला कि नृत्यांगना बदल गई है; पर ऋषभभद्र की सूक्ष्मदृष्टि से वह बात छुपी न रह सकी।

जगत के इस स्वार्थपन ने उनके चित्र को विरक्त कर दिया। वे सोचने लगे कि हमारा मनोरंजन इतना महत्वपूर्ण हो गया कि जिसके द्वारा हमारा मनोरंजन हो रहा है; उसकी मौट की कीमत पर भी हमारे रंग में भंग नहीं पड़ना चाहिए।

उनके वैराग्य का कारण नीलांजना की मौत नहीं थी; अपितु जगत की यह निष्ठुरता थी। मौते तो उन्होंने अनेक देखी होंगी। अनन्यादि भावनाओं
छठवाँ दिन

के चित्त में पर्याय की क्षणभंगुरता भी उनके ज्ञान-ध्यान में प्रतिदिन आती थी। मौत उनके लिए अनजानी और अबुझ्न होती थी। किसी की मृत्यु देखकर वैराग्य होना होता तो 83 लाख पूर्व में कभी का हो गया होता।

इस बात की गंभीरता से अवगत होने के लिए आपको एक कठोर कल्पना करनी होगी। मैं प्रवचन कर रहा हूं और आप सब शान्ति से सुन रहे हैं। ऐसे में ही अचानक प्रवचन करते-करते मेरी हदयगति रुक जाय और मेरा देहावसान हो जाय तो आप क्या करेंगे? आप घबड़ाए नहीं, मुझे कुछ भी होने वाला नहीं है। मैं तो मात्र उदाहरण दे रहा हूं। हा, तो आप सोचिए कि क्या करेंगे आप?

एक तो यह हो सकता है कि आप सब गमगीन हो जायं, कार्यक्रम रुक जाय और दूसरा यह भी हो सकता है कि यदि पण्डत मर गया है तो हटाओ इसकी लश जल्दी से, दूसरा विद्वान बुलवाओ और प्रवचन आरंभ करवाओ। कार्यक्रम भंग नहीं होना चाहिए, मरना-जीना तो लगा ही रहता है।

क्या आप इस दूसरी बात को बरदास्त कर पाएंगे? नहीं तो आप समझ लीजिए कि यह बात ऐसी ही हुई जिसका नुक्ता गई तो दूसरी हारिज, पर नृत्य नहीं रूकना चाहिए। इसी प्रसंग ने ऋषभदेव के हदय को मथ डाला था और उनका चित्त इस स्वार्थी जगत से पूर्णतः विरक्त हो गया था।

जब भी मैं इस प्रकार की चर्चा करता हूं तो कुछ लोग बहुत शुभ्र हो जाते हैं। वे मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि आप ऐसा अशुभ उदाहरण नहीं दिया करें, हमें यह अच्छा नहीं लगता। उनसे मैं एक ही बात कहता हूं कि इसमें अशुभ क्या है?

क्या मुझे मरना नहीं है? एक-एक दिन तो सभी को मरना है। हम रोज ही तो पढ़ते हैं कि -

"राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।"
क्या यह अनित्य भावना का चिन्तन अशुभ है? नहीं तो मरने को बात अशुभ कैसे हो गई? यह तो वैराग्योत्पादक बात है। यहीं जानकर पहली ही भावना में इसकी चर्चा की गई है।

इस पर वे कहते हैं कि आपकी ऐसी दर्दनाक मौत क्यों हो? पर मेरा कहना यह है कि इससे अच्छी और कौनसी मौत होगी। क्या सड़-सड़ कर, गल-गल कर, वर्षा निक्षिप्त पड़े रहकर मरना अच्छा है? अरे भाई प्रवचन करते-करते मरना ही सबसे अच्छी मौत है। इसमें असंभव भी क्या है? जब एक क्षत्रिय घोड़े का पीठ पर सवारी करता हुआ ही युद्ध के मैदान में मरता है; जब एक बनिया दुकान पर ग्राहक पटाते-पटाते ही मरना चाहता है तो एक पिण्डत प्रवचन करते-करते मरे तो कौनसा गजब हो गया?

जब हम यह बोलते हैं कि —

"चाहे लाखों वर्षों तक जीऊँ, या मृत्यु आज ही आ जाए।"

तो उसका क्या अर्थ होता है? यही न कि हम हर समय मरने को तैयार हैं तो फिर किसी भी स्थिति में मरने को अशुभ कैसे कहा जा सकता है?

जो भी हो, पर यह बात अत्यंत स्पष्ट है कि ऋषभदेव को वैराग्य, जगत की इस निदर्घता और स्वार्थियों को देखकर ही हुआ था।

जब नेमिनाथ भगवान विध्वानक होते हैं तो वैराग्य के प्रसंग में नीलांजना का नृत्य न दिखाकर नेमिनाथ की बात का दृश्य दिखाते हैं। उसके सन्दर्भ में भी एक बात विचारणीय है। कहा जाता है कि बारातियों के भोजन के लिए कुछ पशुओं को बाड़े में बन्द रखा गया था। उन्हें मारकर उनकी भोज्यसाग्री बननी थी। उन पशुओं का बंधन और करण क्रन्दन सुनकर नेम्नाथ को वैराग्य हो गया।

इसमें विचारने की बात यह है कि क्या उस कुल में भी मांस-भक्षणादि कार्य चलते थे, जिसमें तीर्थकरों का जन्म होता है? नेमिनाथ के तो गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक भी हो चुके थे। सब जग को विदित हो
छठवाँ दिन

चुका था कि ये तीर्थकर हैं। फिर भी क्या उनकी बारात की व्यवस्था में इसप्रकार की भोज्य सामग्री परोसी जा सकती थी?

ऐसा लगता है कि कहाँ कुछ गलतफहमी अवश्य हुई है। शास्त्रों में आखिर यहीं तो कहा गया है कि पशुओं का बंधन देखकर और करुण क्रन्दन सुनकर नेमिनाथ को वैराग्य हो गया। इसमें से यह कहाँ निकलता है कि वे पशु बारात की भोज्यसामग्री थे। इसकी व्याख्या करने वालों ने ही यह कमाल कर दिखाया है।

बात यों भी हो सकती है। नेमिनाथ की दीक्षा की तिथि श्रावण शुक्ल छठवाँ है। उन्हें वैराग्य भी दूल्ह के वेश में ही हुआ था। तात्पर्य यह है कि उनकी बारात द्वारका से झूनौट श्रावण शुद्धी ६ को ही हुई थी। द्वारका और झूनौट सौराष्ट्र में है, जहाँ आज भी भरसार में शादियाँ होती हैं।

गाय आदि पशुओं का प्रजनन भी आषाढ़-श्रावण में ही होता है। नेमिनाथ की बारात के निकलने वाले मार्ग का यातायात रोक दिया गया था। अतः शाम को जंगल से आने वाली गायें बल्लियों के बाड़ों में रुक गई थीं। ताजी ब्याही गाये अपने बछड़ों के लिए रंभा रहीं थीं। दूसरी ओर बछड़े भी माँ की प्रतीक्षा में बैठक होकर रंभा रहे थे। यही दृश्य देखा था नेमिनाथ ने। जब उन्होंने पूछा कि इन गायों को यहाँ क्यों रोका गया है, तब उन्हें बताया गया कि आपकी बारात निकल रही है न; इस कारण यातायात पुलिस ने इस मार्ग का यातायात रोक दिया है।

यह सुनकर नेमिनाथ इस विचार में चढ़ गये कि मेरी शादी के कारण ही ये गो-पाराएं अपने बछड़ों से बिख़र गई हैं और जोर-जोर से पुकार रही हैं; पर इनकी पुकार सुनने वाला कौन है? इनके इन दु:खों का कारण में ही हृद्दर्द हूँ।

इसप्रकार के विचारों में मगन नेमिनाथ जगत के स्वार्थोपन को देखकर बिखरा हो गये और दीक्षा लेने के लिए गिरनार की ओर चल दिये।
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

नेमिनाथ की विरक्ति का कारण भी जगत का स्वार्थ ही था। ये स्वार्थी जगत अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों के सुख-दुःख का जरा भी ख्याल नहीं रखता। ज्ञानीजनों को जगत की यह स्वार्थ-वृत्ति बहुत खटकती है।

भाई, वैराग्य तो अन्तर की योग्यता पकने पर होता है; काललब्धि आने पर होता है। अन्तर की योग्यता पक जावे और काललब्धि आ जावे तो चाहे जिस निमित्त से वैराग्य हो सकता है। अपने सफेद बाल देखकर भी हो सकता है। न होना तो सम्पूर्ण बाल झड़ जावे, तब भी नहीं होता है।

नीलांजना का नृत्य तो अभी आपने देखा है, उसे मरते भी देखा है, उसके स्थान पर दूसरी को आते भी देखा है; पर आपको वैराग्य तो नहीं हुआ। आप तो यह देख-देखकर हैं, रहे थे; मनोरंजन कर रहे थे। मैंने बारीकी से देखा है, किसी के चेहरे पर वैराग्य का नामोनिशान भी न था। ऐसा क्यों हैं?

इन सबका एक ही उत्तर है कि अभी हमारी काललब्धि नहीं आई है, अभी हमारी पर्यायगत योग्यता नहीं पकी है। निमित्तों से क्या होता है, जबतक अन्तर की योग्यता का परिपक्व न हो।

पशुओं के बन्धन भी हमने कम नहीं देखे, उनका क्रन्दन भी खूब सुना है; पर हमारा दिल कहाँ पिघलता है? अन्तर की तैयारी के बिना कुछ नहीं होता।

ऋषिभदेव तो ज्ञानी थे, धर्मात्मा थे; पर जबतक दीक्षा के लिए उनका अन्तर तैयार नहीं हुआ, तबतक कुछ नहीं हुआ; जबतक काललब्धि नहीं आई, पर्यायगत योग्यता का परिपक्व नहीं हुआ, उन्हें वैराग्य नहीं हुआ; उन्होंने दीक्षा नहीं ली। अन्तर की तैयारी बिना चार हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली; पर क्या परिणाम निकला उसका? अतः बात तो यही ठीक है कि जब अन्तर की तैयारी हो, काललब्धि आ जावे, पर्यायगत योग्यता का परिपक्व हो जावे तो निमित्त भी मिल ही जाता है और काम हो जाता है।
ऋषभदेव को नीलांजना की मृत्यु निमित्त बन गई। समय आ गया तो सब कुछ सहज भव से सम्पन्न हो गया।

राजा ऋषभदेव को वैराग्य हो गया तो उसकी अनुमोदना करने लौकान्तिक देव आये। उनकी पालकी उठाने के सन्दर्भ में इन्द्र, विद्याधरों और राजाओं में जो संघर्ष हुआ, उसका दृश्य भी आज आपने देखा। प्रतिष्ठाचार्यजी के माध्यम से उसके बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त की। संयम धारण करने की शक्ति विद्यमान होने के कारण मनुष्यों को ही सर्वप्रथम पालकी उठाने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे संयम की उत्कृष्टता सहज ही सिद्ध होती है।

इसे आप जानते ही हैं कि संयम धारण किये बिना तो तीर्थकरों को भी केवलज्ञान नहीं होता, मोक्ष नहीं होता; अतः संयम ही महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में दशलक्षण पूजन का निर्माणित छन्द ध्यान देने योग्य है -

"जिस बिना नहीं जिनराज सीझे तू फलो जग कीच में।
इक घरी मत विसर्रो करी, यह आयु जममुख बीच में।"

यद्यपि संयम जीवन में एक घड़ी भी विसरने लायक नहीं है; तथापि बिना पूरी तैयारी के किसी को नकल पर संयम धारण कर लेना भी बुद्धिमानी का काम नहीं है।

महाराजा ऋषभदेव ने दीक्षा ली तो उनके साथी सहयोगी चार हजार राजाओं ने भी बिना विचारे देखा-देखी उनके साथ दीक्षा ले ली। युनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही ध्यानस्थ हो गये। वे अपने आत्मा के चिन्तन, मनन, विचार और ध्यान में ऐसे मन द्वारा कि 6 महां तक ध्यानस्थ ही खड़े रहे।
उन्होंने किसी को यह तो बताया नहीं था कि मैं लगातार छह महां तक ध्यानस्थ ही रहूँगा। अतः साथी राजा उनका मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए
उनके ध्यान के भंग होने की प्रतीक्षा करते रहे; पर उनका ध्यान भंग न होना था, सो न हुआ।

जिन राजाओं ने ऋषभदेव के साथ दीक्षा ली थी, वे मुनिचर्या से पूर्णतः अनभिज्ञ थे; उन्होंने तो ऋषभदेव के भरोसे ही दीक्षा ली थी कि जैसा जो ऋषभदेव करेंगे, वैसा ही हम भी करेंगे। ऋषभदेव के मौन खड़े रहने के कारण वे दिक्कतव्यविमूह हो गये। उनकी समझ में ही कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करें और क्या न करें? भूख-प्यास सही नहीं जाती थी। आहार लेने की विधि से भी अपरिचित थे। अतः वन में कंद-मूल खाने लगे।

उनके इस धर्मविरुद्ध आचरण को देखकर इन्द्र को चिंता हुई कि इस तरह तो युग की आदि में ही मुनिधर्म बदनाम हो जावेगा। अतः इन्द्र ने आकर उन्हें डॉटा-फटकारा तो वे कहने लगे कि हम क्या करें, हमें तो कुछ पता नहीं है और ऋषभदेव मौन धारण किए हुए हैं। यदि मुनिधर्म छोड़कर घर वापस जाते हैं तो सम्राट भरत से प्रताड़ना मिलेगी। अतः हम कुछ भी निशचय नहीं कर पा रहे हैं। अब आप ही बताइये कि हम क्या करें? हम तो वही करेंगे, जो आप बताएंगे।

उनकी इस दीन-हीन दिक्कतव्यविमूह दशा देखकर इन्द्र ने कहा कि तुम यह निर्ध्वप वेश छोड़ दो, फिर चाहे जो करो; क्योंकि निर्ध्वप दशा में इस प्रकार की प्रवृत्ति धर्म को बदनाम करती है।

इन्द्र की यह बात सुनकर उन्होंने वल्लकलादि धारण कर लिए और कंद-मूलादि भक्षण कर अपना जीवन बिताने लगे।

विना कुछ सोचे-विचारें, मात्र देख-देखी दीक्षा लेने चाहा हजार राजाओं की दुर्दशा देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि विना सम्प्रदायन-ज्ञान के चारित्र धारण करने वालों की क्या स्थिति होती है?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मुनिराज ऋषभदेव ने ऐसा क्यों किया? या तो उन्हें अपने साथ दीक्षित नहीं होने देना था या फिर उन्हें सम्पूर्ण
मुनिच्छाय और उसके विधि-विधान को विधवित समझाना था, उनका आचार्यत्व करना था। उनको इसप्रकार साथ लेकर मझधार में छोड़ देना तो समझाने का काम नहीं है। उन राजाओं की तो गलती है ही, पर वे तो अजान थे; अतः उनसे गलती हो जाना तो स्वाभाविक ही था; पर ऋषिभदेव तो सब समझते थे, उन्होंने अपनी जिम्मेदारी क्यों नहीं निभाई?

भाई, ऋषिभदेव से अनुमति लेकर थोड़े ही वे दीक्षित हुए थे। तीर्थकरों का तो नियम है कि वे स्वयं दीक्षित होते हैं, किसी से दीक्षा नहीं लेते, किसी को दीक्षा देते भी नहीं है। वे तो दीक्षा लेते ही जीवन भर के लिए मौन धार्मण कर लेते हैं। वे किसी को साथ नहीं रखते, वे तो एकल विहारी ही होते हैं। वे आचार्यत्व भी नहीं करते। वे मुनिदिशा में किसी दूसरा का बोझ नहीं उठाते।

केवलज्ञान होने के बाद उनकी दिव्यध्वनि अवश्य खिरती है, पर वे छदमस्थ मुनिदिशा में नहीं बोलते। दिव्यध्वनि भी सहज खिरती है, सर्वांग से खिरती है, मुँह से तो तब भी नहीं बोलते। दिव्यध्वनि की विस्तृत चर्चा कल केवलज्ञानकल्याणक के दिन होगी। आज तो तपकल्याणक का दिन है, अतः तपस्मबन्धी चर्चा ही अभीष्ट है।

जीवनभर के मौनप्रती ऋषिभदेव उन्हें क्या समझाते, क्यों समझाते, कैसे समझाते? उस समय आहारदान की भी विधि कोई नहीं जानता था, इसीकारण ऋषिभदेव को बिना आहार के सात महाओर नौ दिन तक भटकना पड़ा था। छह महाके उपवास के बाद सात महाओर नौ दिन तक उन्हें आहार की विधि प्राप्त नहीं हुई; क्योंकि उस समय किसी को आहारदान की विधि ही ज्ञात नहीं थी।

इस बात की विशेष चर्चा तो अभी आहारदान के प्रकरण में करेंगे। अभी यहाँ तो मात्र इतना ही बताना है कि उन्हें स्वयं को भी आहार नहीं मिला, फिर भी उन्होंने किसी को आहारदान की विधि नहीं बताई तो फिर उन राजाओं को समझाने के विकल्प में वे क्यों उलझते?
गाँव-गाँव में आहारदान की विधि पर ही निरंतर ब्याख्यान करने वाले साधु-सन्तो को मुनिराज ऋक्षर्देव की इस सृष्टि पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

देखो, कैसा विचित्र है वस्तु का स्वरूप और कैसी विचित्र है इस जगत की स्थिति। पहले, दूसरे और तीसरे काल में जब यहाँ भोगभूमि थी तो सभी जीव मर कर स्वर्ग ही जाते थे, न तो किसी को मोक्ष होता था और न कोई नर्क या तिर्यन्त गति में ही जाता था; पर जब सर्वज-बीतरागी तीर्थकर ऋक्षभदेव के उपदेश से मुक्ति का मार्ग उद्घाटित हुआ तो उसी समय नरक व तिर्यन्त गति का दरवाजा भी खुल गया।

जब धर्म की प्रवृत्ति आरंभ होती है तो उसका विरोध भी आरंभ हो जाता है और असली धर्मात्माओं से भी अधिक नकली धर्मात्मा खड़े हो जाते हैं। इसीप्रकार मुक्ति के मार्ग के साथ-साथ नरक निगोद का रास्ता भी खुल जाता है।

कैसा विचित्र संयोग है कि ऋक्षभदेव के रूप में यदि एक व्यक्ति ने सच्चा मुनिधर्म अंगीकार किया तो रागवश या अज्ञानवश चार हजार लोगों ने बिना कुछ सोचे-बूझ शुरुवेश धारण कर लिया। यह अनुपात तो युग की आदि का है। उसके बाद तो निरंतर दशा बिगड़ी ही है। इससे हम आज की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।

इसीप्रकार जब ऋक्षभदेव की दिव्यधर्म के माध्यम से मुक्ति का मार्ग उद्घाटित हुआ तो मारीचि आदि के माध्यम से उसका विरोध आरंभ हो गया। इसप्रकार युग की आदि में ही जहाँ एक और ऋक्षभदेव की सच्ची साधुता और दिव्यधर्म के माध्यम से मुक्ति के मार्ग का प्रचार-प्रसार हुआ, वहाँ दूसरी और शिखिलसाधुता और बीतरागी तत्त्व के विरोध के माध्यम से नरक-निगोद का रास्ता भी खुल गया।

आज तो स्थिति अत्यन्त विस्मय है, पर आत्मार्थियों को इसमें उलझना उचित नहीं है; क्योंकि उनके शुद्ध-सातिक प्रयासों से कुछ होना तो संभव
है नहीं, उल्टे स्वयं की धर्मार्थना संकट में पड़ सकती है। इसलिए सुरक्षित मार्ग तो यही है कि हम जगत की चिन्ता छोड़ क्षणभंगुर जीवन के जो भी क्षण शेष हैं, उन सभी को अपने आत्मकल्याण के लिए ही समर्पित कर दें। बिना किसी संकल्प-विकल्प के; बिना किसी इंद्रज में पड़े जितना जो संभव हो, उतना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करें; प्रचार-प्रसार के लोभ में अपने को अधिक उलझायें नहीं। शिथिलाचार को रोकना कोई साधारण काम नहीं है, वह तो शक्तिशाली समर्थ लोगों का काम है। उन चार हजार नवदीक्षित राजाओं को भी तो इन्द्र ने ही रोका था, किसी साधारण व्यक्ति ने नहीं। यह काम तो समाज के उन कर्मधारों का है, जो समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, समाज को संचालित करते हैं। यदि वे स्वयं शिथिलाचार का पोषण करते हैं तो फिर हम और आप क्या कर सकते हैं? अतः में तो सभी आत्मार्थी बंधुओं से यही अनुरोध करता हूँ कि इसमें अपने को उलझायें नहीं। जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा; हम किस-किस को बचाते फिरेंगे? हाँ, हम स्वयं वस्तु का सच्चा स्वरूप समझकर स्वयं को अवश्य बचा सकते हैं।

बाजार में यदि खोटा सिक्का चलता है तो उसे रोकने का काम सरकार का है। यदि हम उसे रोकने जाये तो स्वयं उलझ सकते हैं। कहते हैं कि नकली सिक्का चलाने वालों के हाथ बहुत लम्बे होते हैं, वे लोग अन्य संस्थाओं से उलझे होते हैं। वे बाधक बनने वालों को अपने रास्ते से हटाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। सरकार के हाथ उनके हाथों से भी लम्बे हैं। अतः सरकार ही चाहे तो उनके विरुद्ध कुछ कर सकती है।

इसीप्रकार समाज के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए, शिथिलाचारी साधुओं के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

हाँ, एक बात अवश्य है कि भले ही हम नकली सिक्कों को बाजार में चलने से न रोक सके; पर इतनी सावधानी तो रखनी ही होगी कि वे नकली सिक्के हमारी जेब में न आ जाय। इसीप्रकार हम लोग में चलते हुए
शिथिलाचार को भले ही न रोक पाएं; पर हम स्वयं तो शिथिलाचारी न हो जाएं, हमारे चित्त में तो शिथिलाचार और शिथिलाचारी प्रवेश न कर जाएं। इतनी सावधानी तो हमें रखनी ही होगी।

स्वयं ऋषभदेव ने इसकी चिंता कहाँ की थी? वे तो आत्मा में ही मगन रहे, तब भी एक हजार वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त कर सके। यदि हम इसप्रकार चाहे जहाँ उलझेंगे तो हमारा कोई ठिकाना ही न रहेगा और हम आत्महित से वीचत हो जायेंगे।

इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं दूसरों के सुधार के चक्कर में हम अपना आहित न कर बैठे। हमारी दशा भी उस चिड़िया के समान न हो जावे, जिसने बरसात में भीगते हुए बन्दर को यह सीख दी थी कि भाई तुम्हारे तो आदमी के समान हाथ-पैर हैं, तुम बरसात, धूप और सर्दी से बचने के लिए घर क्यों नहीं बनाते? देखें, हमारे तो हाथ भी नहीं है, फिर भी हम अपना एक घोंसला बनाती हैं और उसमें शान्ति से रहती हैं, गर्मी, सर्दी और बरसात से बच जाती हैं।

भैया मेरी मानो तुम भी एक घर जरूर बना लो।

उसका सत्य और सार्थक उपदेश भी चंचल प्रकृति बंदर को सुहाय नहीं रहा था। अतः वह एकदम चिड़चिड़ा कर बोला -

"तू चुप रहती है या फिर ो…….

बेचारी चिड़िया सहम गई, पर साहस बटोर कर फिर बोली -

"भैया, मैं तो तुम्हारी हिंट की बात कह रही थी। यदि तुम्हें बुरा लगता है तो कुछ नहीं कहूँगी। मुझे तो तुम पर दया आ रही थी। इसलिए इतना कह गईं। बुरा क्यों मानते हो? जरा सोचो तो सही, इसमें क्या बुरी बात है? तुम सर्वप्रकार समर्थ हो, बना लो ना अपना घर ो……।"

चिड़िया अपनी बात पूरी ही न कर पाई थी कि बंदर ने गुस्से में आकर उसका घोंसला छिनन-भिनन कर दिया, तोड़ कर फेंक दिया और बोला -
छठवाह दिन

"यहाँ आई दया दिखाने वाली। अब दिखा दया, अब तो तू भी हमारे समान हो बेहतर हो गई। बोल, अब बोल; अब क्या कहना है तुझे? और भी कोई उपदेश शेष हो तो वह भी दे दे।"

बेचारी चिड़िया चुप रह गई। करती भी क्या? यदि हम दूसरों को सुधारने के विकल्प में अधिक उलझे तो हमारी दशा भी चिड़िया के समान ही हो सकती है। अतः समझदारी इसी में है कि हम अपने कल्याण की ही सोचे। जो लोग सत्य समझना चाहते हों, विनयवंत हों, सरल हुदय हों, उनके अरुद्ध पर जो कुछ सत्य जानते हों, अवश्य बताना, समझना; पर जो लोग सुनना ही न चाहें, समझना ही न चाहें, उन्हें समझने के विकल्प में समय व शक्ति व्यर्थ गंवाना ठीक नहीं है।

इस प्रकार दो बातें हुईं। एक तो यह कि नीलांजना की मृत्यु पर जगत का निघड़ व्यवहार देखकर ऋषभदेव के वैराग्य हो गया और दूसरी बात यह कि ऋषभदेव के साथ चार हजार राजा बिना सोचे समझे ही दीक्षित हो गये। दोनों ही बातें से हमें यह सोचने की मिला कि काललिंग आये बिना, पर्यायगत योग्यता के परिपक्व के बिना, मानव निमित्तों से वैराग्य नहीं होता और देखा-देखी दीक्षा लेने का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता। अतः हमें अपने परिणामों के परिपक्व का प्रयत्न करना चाहिए और जबतक परिणामों का परिपक्व पूरी तरह न हो जाये, तबतक देखा-देखी दीक्षा नहीं लेनी चाहिए।

अब आहारदान की चर्चा करते हैं। आज दीक्षाकल्याणक का दिन है। दीक्षाकल्याणक का दिन तबतक चलेगा, जबतक कि केवलज्ञान नहीं हो जाता। केवलज्ञान का कार्यक्रम तो कल दोपहर बादः होगा। अतः दीक्षाकल्याणक एक प्रकार से कल दोपहर तक चलेगा।

आहारदान का प्रसंग भी कल प्रातः ही दिखाया जायगा। केवली भगवान तो कवलाहार करते नहीं; अतः आहार का प्रसंग केवलज्ञानकल्याणक में कैसे
शामिल किया जा सकता है? वैसे कल के पूरे दिन को कैसे लेना जानकारी के दिन के नाम से ही अभिहित करते हैं। कार्यक्रम में भी इस मार्ग से जाता है।

पर यह विभाजन स्थूल विभाजन है, सूक्ष्मता से विचार करें तो जब तक केवलज्ञान संबंधी कार्यक्रम आरंभ नहीं होता, तब तक दीर्घकाल्याणक का समय ही समझना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि आप पत्रिका में भी कल के आधे दिन को दीर्घकाल्याणक और आधे दिन को ज्ञानकाल्याणक के रूप में छापें, वहां तो जैसा छपता है, वैसा ही छपने दें; पर अपने ज्ञान में तो यह निर्णय अवश्य कर लें कि जब तक आहार का प्रसंग चल रहा है, तब तक दीर्घकाल्याणक का ही समय जानना, अन्यथा केवलज्ञान को कवलाहार का प्रसंग आयेगा, जो न तो संभव ही है और न युक्तिसंगत ही।

छह माह के उपवास के उपरान्त जब मुनिराज ऋषभदेव आहार के लिए निकले तो उस समय किसी खींच भी मुनिराजों को आहार देने की विधि ही ज्ञात न थी। लोग भोलेभाले सरल हृदय थे। जब उन्होंने देखा कि हमारे महा-महाराजाधिराज ऋषभदेव आज विपन्नावस्था में हैं, न तो उनके पास वस्त्र हैं, न कोई सवारी; उनके पैरों में जूते तक नहीं हैं। अतः कोई तो उन्हें वस्त्र देने की कोशिश करने लगा, कोई सवारी के लिए हाथी-घोड़े भेंट में देने लगा और कोई जूते-चप्पल भेंट करने लगा। बात तो यहाँ तक पहुँची कि कुछ लोग उन्हें कदना प्रदान करने लगे, जिससे ऋषभदेव की उजड़ी गृहस्थी बर सके। आहार के बारे में या तो कोई सोचता ही नहीं था। यदि सोचता भी तो उन्हें आहारदानी की विधि ज्ञात न होने से ऋषभदेव आहार लेते ही नहीं। ऋषभदेव लगभग प्रतिदिन आहार के लिए निकलते, पर ७ माह ६ दिन तक ऐसा ही चलता रहा। ६ माह का उपवास और ७ माह ९ दिन तक आहार का न मिलना इस प्रकार १ वर्ष १ माह और ९ दिन तक ऋषभदेव निराहार ही रहे।

देखो, विधि की विद्यमाना, जो स्वयं तीर्थकर हो, जिसके जन्मकाल्याणक में इन्हें अतिशय समयन महत्त्व मनाया हो, जिसके गर्भ में आने के
पहिले ही उल्लम्ब माता का सेवा करने आ गई हों, जिसने सम्पूर्ण जगत को कर्मभूमि के वशिष्ठ में सबप्रकार शिष्टित किया हो; उसे दीक्षा लेने के बाद आहार का भी योग न मिला। सातिशाय पुण्य के धनी और धर्मायत्व भावविलिंग सच्चे सत्ता होने पर भी उस समय उनके पत्ते में इतना भी पुण्य नहीं था कि विधिपूर्वक दो रोटियाँ ही उपलब्ध हो जाती।

पुण्य की कमी थी, ऐसी कोई बात नहीं थी। सत्रा में तो तीर्थकर प्रकृति पड़ी थी और निरन्तर वंध भी रही थी, पर सत्रा में पड़ा कर्म कार्यकारी नहीं होता। जबतक कर्म उदय में न आये, तबतक वह कार्य की उत्पत्ति में निमित्त भी नहीं होता और तीर्थकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुप्तस्थान में होता है, अतः उसके पहले वह किसी कार्य में निमित्त भी नहीं हो सकती।

अन्य प्रकार के पुण्य की भी कोई कमी नहीं थी, अन्यथा लोग उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुकें क्यों भेंट करने को उत्सुक होते, पर निरन्तर आहार की उपलब्धिका न तो पुण्योदय ही था और न उस समय की पर्याय की योग्यता ही ऐसी थी। पाँचों ही समवाय आहार नहीं मिलने के ही थे।

१३ माह ९ दिन बाद हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हुआ, जिसमें उन्हें मुनियों को आहार देने की विधि का स्मरण हो आया। जब ऋषभदेव का जीव राजा वत्रजंध था और राजा श्रेयांस का जीव प्रजाजंध की पत्नी श्रीमती था। उस समय उन दोनों ने मिलकर अपने ही युगल पुत्रों को, जो मुनिराज हो गये थे, आहार दिया था। वह दुःख उनकी स्मृति पतल पर आ गया। इससे उन्हें मुनिराजों को आहार देने की विधि पूर्ण: स्पष्ट हो गई और उन्होंने मुनिराज ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार दिया।

जिस दिन मुनिराज ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार मिला, वह दिन अक्षय तृतीया का शुभ दिन था। इसीकारण अक्षय तृतीया का महापर्व चल पड़ा। यही कारण है कि यदि ऋषभदेव को धर्मतीर्थ का प्रवर्तक माना जाता है तो राजा श्रेयांस को दानतीर्थ का प्रवर्तक।
यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि राजा श्रेयांस को जातिस्मरण ७ माह पूर्व क्यों नहीं हो गया? यदि ७ माह पूर्व उहें जातिस्मरण हो जाता तो ऋषभदेव को इतने दिनों व्यर्थ ही निराहार न रहना पड़ता।

पर, भाई साहब क्या तुम इस बात को नहीं जानते कि समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देने वालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयार हो तो निमित्त हो वहिज ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है। अतः निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।

मुनिराजों के २८ मूलगुणों में दो मूलगुण आहार से भी संबंधित हैं -
(१) दिन में एक बार अल्प आहार लेना और
(२) खड़े-खड़े हाथ में आहार लेना।
जैसा कि छहढाला की निम्नांकित पंक्ति में कहा गया है -
"इकबार दिन में लें आहार खड़े अलप निजराम में।"

मुनिराज दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, वह भी भरपेट नहीं, अल्पाहार ही लेते हैं और वह भी खड़े-खड़े अपने हाथ में ही।

ऐसा क्यों है, खड़े-खड़े ही क्यों? बैठकर शान्ति से दो रोटियाँ खा लेने में क्या हानि है? हाथ में ही क्यों, थाली में जोमने में भी क्या दिक्कत है?

इसीप्रकार एक बार ही क्यों, बार-बार क्यों नहीं, अल्पाहार ही क्यों, भरपेट क्यों नहीं? यह भी कुछ प्रश्न है, जो लोगों के हदय में उत्सन्न होते हैं।

वनवासी मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक अत्मसाधना कर सकेंगे। इसीकारण तो वे नगरवास
का त्याग करते हैं, वन में रहते हैं, मनुष्यों की संगति की अपेक्षा चन्द्रमा
पशु-पक्षियों को संगति उन्हें कम खट्टाक लगती है; क्योंकि पशु-पक्षी,
कुंडे-मकोड़े भरते ही थोड़े-बहुत शारीरिक पीड़ा पहुँचाते, पर वे व्यर्थ की
चर्चाएँ कर उपयोग को खराब नहीं करते। गृहस्थ मनुष्यों के व्यर्थ की लो०की
चर्चाओं से उनके उपयोग को बश्च करते हैं। जिस राग-द्वेष से बचने के लिए
वे साधु हुए हैं, उन्हें गृहस्थ येनेके प्रकार उन्हें राग-द्वेषों में उलझा देते
है। तीनों के उद्वार के नाम पर उनसे चंद्रे को अपील कराएँगे, पंच-पंचातों
में उलझाएँगे, उनके सहाये अपनी राजनीति चलाएँगे, उन्हें भी किसी न किसी
रूप में अपनी राजनीति में समायोजित कर लेंगे।

इन गृहस्थों से बचने के लिए ही वे चन्द्रमा होते हैं; पर आहार एक
ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना
ही पड़ता है। अतः सांवधानी के लिए उक्त नियम रखें गये हैं। एक तो यह
कि जब वे आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर आते हैं,
दूसरे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं; क्योंकि गृहस्थों के घर में बैठना उचित
प्रतीत नहीं होता। गृहस्थों का सम्पर्क तो जितना कम हो, उतना ही अच्छा
है। दूसरों से करने का मौन सबसे सशक्त साधन है; वे उसे ही अपनाते हैं।

दूसरे, उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ है कि बैठकर शान्ति से खाओँ। उन्हें तो
शुद्ध सातिक आहार से अपने पेट का खड़ा भरना है, वह भी आधा-अधूरा।
शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे भरपूर खाने में समय बर्बाद करना इतना नहीं है।
जब हम भी किसी काम की जल्दी में होते हैं तो कहाँ ध्यान रहता है स्वाद
का? उन्हें भी गृहस्थ के घर से भागने की जल्दी है, सामायिक में वैठने की
जल्दी है; आत्मसाधन करने की जल्दी है। बच्चों का मन भी जब खेल में
होता है तो वे भी कहाँ शान्ति से बैठकर खाते हैं। माँ के अति अनुरोध पर
खड़े-खड़े थोड़ा-बहुत खाकर खेलने भागते हैं। मन तो खेल में है, उन्हें खाने
की फुर्सत नहीं। उसीप्रकार हमारे मुनिराजों का मन तो आत्मसाधन में है, उन्हें
शान्ति से बैठकर खाने की कहाँ फुर्सत है?
इसीप्रकार भरपेट खाने के बाद आलस का आना स्वाभाविक ही है। अत: जिन मुनिराजों को आहार से लोटने पर ६ घड़ी तक सामायिक करनी है, उन्हें प्रमाद बढ़ाने वाला भरपेट भोजन कैसे सुहा सकता है? जब छात्रों की परीक्षाएँ होती हैं, इसकारण उन्हें देर रात तक पढ़ना होता है तो वे भी शाम का भोजन अल्प ही लेते हैं। इसकारण मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्जा आदि अनेक रोग आ घेरेगे। ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में भी बाधा पड़ेगी। अत: वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेते हैं फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा? बस एक ग्रास ही न? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती।

एक बात यह भी है कि उसमें भक्तगण अपने वैभव को प्रदर्शित किए बिना नहीं रहते। यदि महाराज थाली में खाने लगें तो कोई चाँदी की थाली में खिलायेगा, कोई सोने की थाली में।

दिगम्बर जीतागामी भगवान को भी हम सोने-चाँदी, हीरे-ज्वाहरात से सजाने लगे हैं। यदि दिगम्बर लोग उनके तन पर कोई गहना-कपड़ा नहीं सजा सकते तो वे उनके परिक्र को सजावेंगे। छात्र-छात्राओं के माध्यम से उन्हें
जगमगा दें गे। जिन्हें तुम्हें जानकर वे त्याग कर आये हैं, उन्हीं को उनके चारों ओर सजावे गे।

रागियों की प्रवृत्तियाँ रागमय ही होती हैं, वैरागी और बीतरागी मुनिराजों को वे वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ कैसे सुहा सकती हैं? यह रहस्य है उनके करपात्री होने का।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर चर्चा के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में कुछ दोष लग गया हो, तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित लेना होता है।

भोजन की चर्चा के बाद ही यह सब क्यों?

इसलिए कि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिए कितना खतरनाक है? इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्चा के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित करें।

इस बात को ध्यान में रखकर बीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा यति करना चाहिए। गृहस्थों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे भी मुनिराजों को जगत के प्रपंचों में न उलझावें। यदि उन्हें उनका सत्समागम मिल जाता है तो उनसे बीतरागी चर्चा ही करना चाहिए, तत्वज्ञान समझने का ही प्रयास करना चाहिए।

मुनिराज उद्दिशित आहार के त्याग होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकरी वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भाँड़ा या मधुमक्खियाँ जिन फूलों से मधु ग्रहण करती है, रस ग्रहण करती है; वह उसे रंगमात्र भी क्षण में न हो जाये - इस बात का ध्यान रखने हैं। वे पुष्प का रस लेते समय इतना ध्यान रखते हैं कि उस पर
अपना बजन भी नहीं डालते, बिन्निनालाए रहते हैं, उड़ते रहते हैं और अत्यन्त बारीक अपने डंक से इसप्रकार रस चूसते हैं कि पुष्प का आकार भी नहीं बिगड़ता, वह एकदम जैसा का तैसा बना रहता है। उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते हैं, उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, ऐसा नहीं होने देते। अतः उनके उददेर्श्य से बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ ने जो आहार स्वयं के लिए बनाया, उसमें से ही वह मुनिराज के लिए देवे, वही ग्रहण करते हैं। मुनिराजों के उददेर्श्य से बनाये गये आहार में जो आरंभ हिंसा होती है, उसका भागी मुनिराज को बनना होगा; इसकारण मुनिराज नहीं चाहते कि कोई उनके उददेर्श्य से आहार बनावे। यही कारण है कि वे उददेश्य आहार के त्याग होते हैं।

दीक्षाकल्याणक के दिन दिगम्बर मुनिराजों की समस्त चर्चा पर ऊँचापढ़ होना चाहिए, मुनिराजों के अन्तर्भाष सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन निष्पक्षकार से शास्त्रानुसार होना चाहिए; जिससे जनता मुनिधर्म के सच्चे स्वरूप की समझ सके और मुनिराजों के प्रति उसके हुदय में भक्तिभाव भी जागृत हो।

मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्दर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषिभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए।

व्यक्तविशेष की चर्चा होने पर वातावरण विश्वबुद्धि हो जाता है और फिर मुनिधर्म का स्वरूप स्पष्ट करना भी संभव नहीं रहता है। अतः टीका-टिप्पणी और आलोचना-प्रत्यालोचना से पूरी तरह बचना चाहिए। किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में नहीं उलझना ही आत्मार्थ है, आत्मार्थता की सच्ची निशानी है।
छठवाँ दिन

मुनिराजों को तो शास्त्रों में चलते-फिरते सिद्ध जैसा ही कहा है। मैंने स्वयं देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में लिखा है -

"चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीघ्र झुकाते हैं। हम चले आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं ॥" 

आज दीक्षाकल्याणक के दिन हम सब मुनिदशा का स्वरूप समझें, उसके सदर्भ में विचार करें, चिंतन करें, मन्तन करें; क्योंकि एक न एक दिन हम सबको भी मुनिराज बनना है न? अरे भाई मुनिराज न बनाए तो मोक्ष कैसे जावेगे? मुनिधर्म धारण किए बिना तो आज तक किसी को मोक्ष हुआ नहीं, तो हमें व आपको कैसे होगा?

'वो दिन कब पाऊँ, जब घर को छोड़ बन जाऊँ।' - यह भावना भाते हुए दीक्षाकल्याणक को चर्चा समाप्त करता हूँ। कल केवलज्ञानकल्याणक की चर्चा होगी।

कोई न कोई राजनीति होगी

किसी व्यक्ति का हदय कितना ही पवित्र और विशाल क्यों न हो; किन्तु जबतक उसका कोई स्वरूप सामने नहीं आता, तबतक जगत उसकी पवित्रता और विशालता से परिचित नहीं हो पाता है। विशेषकर वे व्यक्ति जो किसी कारणवश उससे द्वेष रखते हों, तबतक उसकी महानता को स्वीकार नहीं कर पाते, जबतक कि उसका प्रबल प्रमाण उनके सामने प्रस्तुत न हो जावे। विरोध के कारण दूर रहने से छोटी-छोटी बातों में प्रगट होनेवाली महानता तो उन तक पहुँच ही नहीं पाती है; जो कुछ पहुँचती भी है, वह तीव्र द्वेष में सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है। यदि किन्तु को कभी किसी कार्य को देखकर ऐसा लगता भी है तो पूर्वाग्रह के कारण समझ में नहीं आती। तथा यदि समझ में भी आवे तो - इसमें भी कोई न कोई राजनीति होगी - यह समझकर यो ही उड़ा दी जाती है; क्योंकि उनको,बुद्धि तो उसके दोष-दर्शन में ही सतर्क रहती है।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २४०
सातवाँ दिन

केवलज्ञानकल्याणक

आज केवलज्ञानकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का सातवाँ दिन और पंचकल्याणक का चौथा दिन।

आज मुनिराज ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी को सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सोचे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है।

केवलज्ञान सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को हाथ पर रखे हुये आँखें के समान अत्याव स्वतंत्र माना जाता है।

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामाणिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुप्रेर पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहें जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञानदर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवलीभावन पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; तथापि सभी पदार्थ बिना यल के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं।

जिसप्रकार दर्पण भी पदार्थों के पास नहीं जाता और पदार्थ भी दर्पण के पास नहीं आते, फिर भी दर्पण में पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ झलकते हैं। दर्पण में तो यह आवश्यक है कि जो पदार्थ उसके सामने हों, वे ही झलकेंगे; पर केवलज्ञान में ऐसी भी कोई आवश्यकता नहीं है। कोई पदार्थ कहीं भी कियों न हो, वह अपनी भूत-भावन्य
होनेवाली समस्त पर्यायों सहित केवलज्ञान में जलकता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान में क्षेत्र और काल बाधक नहीं होते, किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं होती, लोकालोक का ज्ञान प्रतिसमय सहजज्ञान से होता रहता है और केवलज्ञानी अपने में मृग रहते हुए भी लोकालोक के सभी पदार्थों को सहजज्ञान से जानते-देखते रहते हैं। पदार्थों के परिणमन से न ले प्रभावित होते हैं और न उनके जानने-देखने से पदार्थों का परिणम नी ही प्रभावित होता है, सहज ही निर्लिप्त भाव से ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध बना रहता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि केवलीभगवान भविष्य की पर्यायों को भी जानते हैं तो फिर तो सम्पूर्ण भविष्य भी निर्लिप्त होगा; क्योंकि यदि भविष्य निर्लिप्त न हो तो उसे जानने कैसे और उसके जानने का अर्थ भी क्या है?

हाँ भाई, बात तो ऐसी ही है कि प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणाम होगा - यह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान कृष्णभद्र ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़कोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थकर होगा।

एक कोड़कोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में जलाक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले यह बता दिया था कि यह द्वारका नगरी बारह वर्ष बाद जल जायेगी और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जलने से रोका नहीं जा सका, आखिर वह बहुत जली ही।

इसी प्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी हों, जो इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है, अपरिहार्य कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवलीभगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।
इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी करना हो तो लेखक की अन्य कृति "क्रमबद्धपर्याय" का अध्ययन करना चाहिए, उसमें इस विषय का लगभग १५० पृष्ठों में अत्यन्त विश्लेषण स्पष्टिकरण है। यह विषय बहुत दिलचस्प है, क्रांतिकारी है, जीवन बदल देनेवाला है; अतः सभी को चाहिए कि वह "क्रमबद्धपर्याय" को एक बार नहीं, अनेक बार पढ़ें और उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु पर गहराई से मंधन करें, विचार करें, निर्भर करें; आवश्यक प्रतीत हो तो विशेषज्ञों से भी उक्त प्रकरण पर विचार-विमर्श करें। जबतक किसी निर्णय पर न पहुँच जावें, विषय को छोड़े नहीं, उसको तह तक पहुँचने का पूरा-पूरा पुरुषार्थ करें।

केवलग्न सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अपनी अनवर्त है; क्योंकि सर्वज्ञता धर्म का मूल है। सच्चे देव के स्वरूप में सर्वज्ञता शामिल है। जो वीरतागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; वही सच्चा देव है - ऐसा रत्नकरण श्रावकार्तिक में आचार्य समानता लिखते हैं। सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी समझना संभव नहीं है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को समझे बिना तो व्यवहार सम्बन्ध भी होना संभव नहीं है। अतः इस विषय पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है, पर अभी यहाँ इतना समय नहीं है; क्योंकि अभी केवलग्नकल्याणक संबंधी और भी अनेक विषय स्पष्ट करने हैं।

ऋषिभदेव मुनि अवस्था में एक हजार वर्ष तक रहे। दीक्षा लेने के एक हजार वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञ की प्राप्ति हुई थी। इस पंचकल्याणक में आज केवलज्ञकल्याणक का दिन है। आज केवलज्ञकल्याणक के दिन ही वे भगवान बने। इसके पूर्व वे मुनिराज ऋषिभदेव थे। उसके भी पहले वे राजा ऋषिभदेव थे। उसके पहले राजकुमार ऋषिभ थे。

केवलज्ञ होने के बाद उनकी व्यवधानि खिरी, जिससे मुक्ति के मार्ग का उद्धार हुआ। केवलज्ञकल्याणक के सन्दर्भ में भी निम्नलिखित ३ बिन्दुओं पर विचार किया जाना आवश्यक है।
(१) ऋषभदेव की धर्मसभा समोसरण की रचना
(२) भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वानि
(३) दिव्यध्वानि में समागत वस्तु का स्वरूप

tीर्थकर की धर्मसभा को समोसरण कहते हैं। उसकी रचना सौधर्म इन्द्र के माध्यम से होती है। वह धर्मसभा हमारी धर्मसभा जैसी नहीं होती, अपितु गोलाकार होती है। बीच में भगवान विराजमान होते हैं और चारों ओर श्रोताजन बैठते हैं। उसमें चारों ओर मिलाकर १२ सभायें होती हैं, जिनमें मुनिराज, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के साथ-साथ देव-देवांगनाएँ तथा पशु-पक्षी भी श्रोताओं के रूप में बैठते हैं।

यद्यपि भगवान बीच में विराजमान होते हैं, तथापि चारों ओर बैठे लोगों में से किसी की ओर उनकी पीठ नहीं होती; सभी को ऐसा लगता है कि मानों भगवान का मुख उनकी ही ओर है। उनका मुख चारों ओर होने से उन्हें चतुर्भुज भी कहा जाता है। उनके मुख नहीं होते, पर कुछ ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर बैठे लोगों को दिखाई देता है। इसप्रकार के अनेक अतिशय उनके समोसरण में देखने में आते हैं।
उक्त बारह सभाओं के अतिरिक्त समोसरण में बाग-बगीचे, नाट्यशालाएं-नृत्यशालाएं आदि अनेक प्रकार की सुन्दरतम रचनाएं होती हैं। यह जो आप समोसरण का दृश्य देख रहे हैं। यह उसका ही प्रतिरूप है।

भगवान की दिव्यध्वनि ओँकार स्वरूप एकाक्षरी होती है, जिसे अनक्षरी या निरक्षरी भी कहते हैं। यद्यपि उनकी ध्वनि निरक्षरी होती है, तथापि श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते वह उनकी भाषा में परिणत हो जाती है। इसप्रकार उनके उपदेश को सब अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। उनकी दिव्यध्वनि १८ महाभाषाओं और ७०० लघु भाषाओं में परिणत हो जाती है।

देवशास्त्रगुरु पूजन की जयमाला में आता है न कि –

“दशाअष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत।”

भगवान ऋषिभदेव वर्तमान चौबीसी में सबसे पहले तीर्थकर थे, इसकारण उन्हें आदिनाथ भी कहते हैं। भगवान आदिनाथ के समोसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ थी और वह बारह योजन के विस्तार में बना था।

समोसरण की रचना के सन्दर्भ में लोगों के चित्र में एक प्रसन बार-बार उभरता है कि वीराराजी भगवान की धर्मसभा में बाग-बगीचे क्यों, नाट्यशालाएं-नृत्यशालाएं क्यों? राग-रंग के स्थान क्यों, नाच-गाने क्यों? अनेक आकर्षक लुभावनी रचनाएँ क्यों? इसप्रकार बीस हजार सीढ़ियाँ क्यों? उनकी धर्मसभा तो समतल भूमि पर होना चाहिए; जिसमें रोगी, बाल, वृद्ध सभी आसानी से पहुँच सकें।

क्या आप जानते हैं कि बीस हजार सीढ़ियाँ का मतलब क्या होता है?

इसका अर्थ यह हुआ कि समोसरण में जाना दो बार गिरनार की यात्रा करने के बराबर हो गया। यात्रा के लिए भी लोग डॉलियों में जाते हैं। भगवान की वाणी सुनने के लिए जाने के लिए इतनी कष्टप्रद यात्रा क्यों? धर्मश्रवण के लिए तो सरलतम सहज व्यवस्था होनी चाहिए।
इन बातों पर गंभीरता से चर्चा करने पर इस बात की ओर विशेष ध्यान जाता है कि इंद्र जैसे समझदार व्यवस्थापक ने कुछ सोच-समझकर ही यह व्यवस्था की होगी।

मूलतः बात यह है कि जो जितना बड़ा वक्ता होता है, उसकी सभा में उतने ही अधिक श्रोता पहुँचते हैं। यदि वक्ता पुण्यशाली भी हुआ तो जनता उमड़ पड़ती है। जहाँ तीनेंकर जैसा पुण्यशाली प्रवक्ता हो, वहाँ तो कहना ही क्या है?

ऐसी स्थिति में भीड़ को नियंत्रित करना एक समस्या तो होती ही है। सामान्य व्यवस्थापक भीड़ को नियंत्रित करने के लिए प्रवेशपत्रों की व्यवस्था करते हैं, बिना प्रवेशपत्र के लोगों को रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। कुछ बनियाँबुड़ी व्यवस्थापक टिकट लगा देते हैं, जिससे भीड़ भी कम हो जाती है और आर्थिक लाभ भी हो जाता है। पर इंद्र जैसे निर्देशक, बुद्धिमान, विवेकी और समर्थ व्यवस्थापक के लिए यह सब संभव न था। वह तो यह चाहता था कि चाहें निर्णय हो या धनिक, चाहें मनुष्य हो या पशु, पर जो तीनें रुचि वाले हैं, निकटवर्त्ति हैं, विषय-कषय से विरक्त हैं और अप्रमादी हैं; ऐसे लोग ही धर्मसभाओं में पहुंचना चाहिए, जिससे भगवान की वाणी का पूरा-पूरा सदृश्योग हो सके।

जब इंद्र ने इतनी बड़ी धर्मसभा की व्यवस्था की तो वहाँ बैठने के स्थान की कोई समस्या नहीं थी; क्योंकि वे चाहते तो नाट्यशालाओं और बाग-बगीचों वाले स्थान को भी सभाभवन के रूप में व्यवस्थित कर सकते थे।

पर मूल बात यह थी कि विषय-कषय की रुचि वाले, दीर्घसंसारी, प्रमादी लोग वहाँ पहुँच कर स्वयं तो भगवान की वाणी मन लगाकर सुनते ही नहीं, दूसरों को भी न सुनने देते। अतः उसने विषय-कषय की रुचिवाले और प्रमादी लोगों को रोकने के लिए ही यह व्यवस्था की होगी।
प्रमादी लोग तो बीसहजार सीढ़ियों का नाम सुनकर ही हिम्मत हार देते होंगे, पर कुछ हट्टे-कट्टे लोग ऐसे भी होते हैं कि जो कुतूहल वश बीसहजार सीढ़ियाँ भी सहज ही पार कर लेते हैं। विषय-कषय की सुनी चाले ऐसे हट्टे-कट्टे लोगों को रोकने के लिए ही मानों बाग-बगीचों की रचना की जाती है। ऐसा होता भी है कि हजारों लोग प्रतिदिन भगवान की वाणी सुनने के संक्लप के साथ घर से निकलते हैं और मार्ग में आने वाले बाग-बगीचों में ही रम जाते हैं, नृत्य देखने में लगे रहते हैं और धर्मसभा तक पहुँच भी नहीं पाते।

धर्मसभा तक पहुँचने वाले तो वे ही होते हैं कि न जिन्हें बाग-बगीचों में रस है और न नाच-गाने में। वे तो एकमात्र भगवान की बीतराग वाणी की रसिया होते हैं, जो यहाँ-वहाँ निगह डाले बिना सीधे धर्मसभा की ओर उम्मीद रहते हैं और यथासमय पहुँच कर उनकी वाणी का पूरा-पूरा लाभ लेते हैं।

ऐसे सुयोग-सुप्रात्र श्रोताओं के सदृश्व का ही यह सुपरिणाम निकलता है कि जब भगवान की दिव्यधनी खिरती है तो वह निष्पल नहीं जाती, उसके प्रभाव से सैकड़ों लोग मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं; हजारों अणुवति लेते हैं और लाखों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करते हैं। इसप्रकार के अनेक कथन शास्त्रों में आते हैं कि अमुक तीरथकर की दिव्यधनी सुनकर इतने लोगों ने मुनिदीक्षा ली, इतने लोगों ने अणुवति धारण किया और इतने लोगों ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की।

अतः यह सहजसिद्ध ही है कि समोसरण की रचना का जो स्वरूप है, वह सुसंगत ही है।

उक्त संदर्भ में एक बात और भी विचारणीय है। जब कोई अध्यापक किसी कक्षा में पढ़ाने के लिए जाता है, तो उसके सामने जो छात्र होते हैं, उनका एक स्तर होता है। जैसे कोई अध्यापक दशवीं कक्षा को पढ़ाता है तो
उसके सामने जो छात्र होते हैं, वे सभी नौवीं कक्षा पास होते हैं और कोई भी छात्र दर्शानी कक्षा पास नहीं होता है। सभी छात्र उस भाषा को समझते हैं कि जिस भाषा में वह पढ़ता है। अत: उसे पढ़ने में भाषा और स्तर को कोई समस्या नहीं होती, किन्तु जब कोई वक्ता किसी सभा को सम्बोधित करता है तो उसके सामने जो श्रोता होते हैं, वे न तो सभी एक स्तर के होते हैं और न एक भाषा-भाषी ही होते हैं। अत: उसे भाषा और स्तर की समस्या का सामना करना होता है।

वक्ता जितना बड़ा और जितना प्रभावशाली होगा, उसे सुनने वाले श्रोताओं के स्तर में उतना ही अधिक अन्तर होगा, भाषा संबंधी जटिलता भी उतनी ही अधिक होगी। जब देश का प्रधानमंत्री किसी सभा को संबोधित करता है या दूरदर्शन पर भाषण देता है तो उसके सामने जहाँ एक और अनेक भाषा-भाषी लोग बैठे होते हैं, वहाँ विश्व के बड़े-बड़े नेता, बड़े-बड़े प्रशासनिक अधिकारी, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी उसे सुनते हैं और बिना पढ़ी-लिखी ग्रामीण जनता भी सुनती है, जिसमें आदिवासी एवं वे महिलाएँ भी होती हैं कि जिनको कार्य भूमि बराबर होता है, ऐसी स्थिति में उसे अपनी रीति-नीति स्पष्ट करनी होती है।

जब तीर्थकर जैसा प्रवक्ता होता है तो उसके सामने और भी अधिक विषमता होती है। जहाँ एक और गणधरदेव जैसे धार्मिक के पाठी चार ज्ञान के धारी शुद्धिज्ञोंगी सम्य होते हैं, धार्मिक के पाठी सौधर्म इद्र जैसे देवगण होते हैं तो वहाँ दूसरी और पशु-पक्षी भी उनकी धर्मसभा में देशना सुनने के लिए जातिगत वैय-विरोध छोड़कर शान्तभाव रखते हैं। अत: स्तर और भाषा की जटिलता समस्या तीर्थकर भगवान की धर्मसभा में भी होती है, जिसका समाधान उनका सतिष्ठापण पूर्ण अनेक अतिशयों के माध्यम से करता है।

उनकी ओँकार ध्वनि (दिव्यध्वनि) श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते उनकी भाषा में परिणत हो जाती है और उनके स्तर के अनुरूप भगवान की
बाणी उनकी समझ में भी आ जाती है। आज के वर्तमान ग्रामीण की भाषा व्यक्ति-विदेश की अनेक लोकसम्प्रदायों को मार्गदर्शन देता है। जैसे साधनसम्प्रदाय एवं वैज्ञानिक प्रवाल के धनी व्यवि लिए इसप्रकार की सातिशय व्यवस्था असंभव नहीं लगती।

हैंसने और रोने की भाषा भी एकाकी ही होती है और उसे प्रत्येक भाषा-भाषी आसानी से समझ लेता है। कोई भी बालक माँ के पेट से किसी भाषा को सीखकर नहीं आता, पर वह अपनी ध्वनि के माध्यम से अपनी बात सब तक पहुँचाता ही है। जब नग दिगम्बर बालक की बात को समझने में भाषा की समस्या नहीं आती तो नग दिगम्बर वीरतारामी परमात्मा की एकाकी बात भी जन-जन तक सहज वाय से पहुँच जावे तो कौन सी आवश्चय की बात है?

इसप्रकार भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा की रचना और उनकी दिव्यध्वनि की कर्म संस्कृत में की, अब उनकी दिव्यध्वनि में समागम वस्तुस्वरूप पर विचार अपेक्षित है।

आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वधिष्ठित' नामक ग्रन्थ में पंचकल्याणक दर्शन को सम्प्रदाय का निमित्त कहा है। इस संदर्भ में विचार करने की बात यह है कि पंचकल्याण का ऐसा कौनसा अंग है कि जो सम्प्रदाय का साक्षात्कार निमित्त बनता है?

सम्प्रदाय की प्राप्ति के पूर्व अनिवार्य रूप से होने वाली पाँच लब्धियाँ कहीं हैं। उनमें एक देशनालिप्त भी है। तीठकर भगवान की देशना ही सम्प्रदाय का उत्कृष्ट निमित्त है। अत: पंचकल्याणक का यह देशना वाला प्रकरण ही सम्प्रदाय का मूलभूत निमित्त है। इसी के कारण सम्पूर्ण पंचकल्याणक के दर्शन को सम्प्रदाय का निमित्त कहा जाता है।

समस्यारूप में भी तो जो भाग-बगीचे हैं, नृत्यशालाएँ-नाट्यशालाएँ हैं, उनका दर्शन सम्प्रदाय का निमित्त नहीं बनता है; अपितु दिव्यध्वनि में आने वाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्प्रदाय का देशनालिप्त रूप निमित्त है।
सातवाँ दिन श्री

ते राग-रंग में ही निमित बनते हैं, वीतरागतारूप धर्माभिज्ञ ता वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं। अतः विन्यास के निर्मित भूमि इन महत्वपूर्ण मार्गों में हम यह बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हो। तदर्थ शुद्धता के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर हमारे तत्त्वांवधान में होने वाले पंचक्लियणों में हम इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं। इन्द्र-इन्द्राणियों और राजा-रानियों के संवादों में भी इसतरह की विषय-वस्तु प्रस्तुत की जाती है, जो सीधी आत्मा को स्पर्श करने वाली हो, वैराग्यपात्रक हो और आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप की प्रतिपादक हो।

इन महान धर्मों को मनोरंजन एवं माननिर्देशा का साधन न बनाकर वीतरागी तत्त्वांवधान के प्रचार-प्रसार का साधन बनाया जाना चाहिए। इसी में हम सबका भला है, समाज का भी भला है।

वद्दपि सम्पूर्ण द्वारकांग भगवान की बाणी है और उसमें जो भी प्रतिपादन किया गया है, वह सभी उपयोगी ही है, आवश्यक ही है; तथापि सम्पूर्ण जिनवाणी के आराधक पाठक तो श्रृद्धकेवली ही हुआ करते हैं। साधारणबुद्धि के धारक लोगों को तो उसमें से भी प्रयोजनभूत विषयवस्तु को अपने अध्ययन के लिए चुनना होता है, जो आत्मक्लियण के लिए अत्यन्त आवश्यक हो, अनिवार्य हो।

भगवान की दिव्यधारण भी उसी मूलवस्तु की मुख्यता से खिरती है। वह मूलवस्तु जीवान्त तत्त्वांवधान हैं, उनमें भी निज भगवान आत्मा रूप जीवतत्व प्रमुख है; क्योंकि सम्प्रदािश, ज्ञान एवं चारित्र एवं चारित्र की एकतारूप मुक्ति का मार्ग निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उपलब्ध होता है।
परमार्थदृष्टि से विचार करे तो निज भगवान आत्मा के अनुभव पूर्वक निज आत्मा को जानने का नाम सम्यंगजन है, इसी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यंगदर्शन है और इसी निज भगवान आत्मा में जमने-रमने, समा जाने का नाम सम्यंचारित्र है। सम्यंगदर्शन, ज्ञान, चारित्र की यह एकता ही साक्षात मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है। एक त्रिकाली ध्रुव ज्ञानन्दस्वभावी, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन निज भगवान आत्मा ही तीनों का एकमात्र आश्रयभूत तत्त्व होने से तीनों एक ही हैं। तीनों की एकता का यही वास्तविक स्वरूप है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन का यह कर्तव्य है कि सबसे पहले वह निज भगवान आत्मा को सही रूप में जाने, पहिचानने, उसके जानने-पहिचानने में पूरी शक्ति से लगे।

यद्यपि यह भगवान आत्मा देहदेवल में विराजमान है, तथापि यह देहरूप नहीं है; देहरूप कभी हुआ भी नहीं है और कभी देहरूप होगा भी नहीं। यह तो इस देह से दूरित: असम्यंजृत है, भिन्न है और भिन्न ही रहेगा; क्योंकि देह तो जड़ है, पद्धतयों है, अचेतन है, अयोग्य है, नाशवान है और यह भगवान आत्मा चेतन है, ज्ञानन्दस्वभावी है, परमपवित्र है और अविनाशी ध्रुवतत्व है। इस मलिन देह और परमपवित्र भगवान आत्मा का क्षणिक एककेश्त्रावगाह संबंध है। एककेश्त्रावगाह संबंध ही उसे कहते हैं कि जिस संबंध में दो या दो से अधिक पदार्थों का एक आकाश के प्रदेशों में एकसाथ रहना मात्र होता है। जैसे कोई कहे कि मेरा और आपका क्या संबंध है? उसके उत्तर में मे कह हूँ कि आप भी भारतवास हैं और मैं भी भारतवास हूँ, मात्र इतना ही संबंध है, इससे अधिक कुछ नहीं। इसीप्रकार यह आत्मा और यह देह दोनों जन्म से लेकर मृत्यु तक आकाश के एक ही प्रदेशों में एक साथ रहेंगे, इन दोनों में मात्र इतना ही संबंध है, इससे अधिक कुछ नहीं।

मोही जीवों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे जिसके साथ कुछ दिन रह लें, उसी को अपना मानने लगते हैं। जेल की एक कोठरी में एक साथ
रहने वाले दो कैदियों में भी इसप्रकार का संबंध होता है। वैसे तो वे एक दूसरे के कुछ नहीं होते हैं, फिर भी उनमें परस्पर अपनापन हो जाता है, यह सब मोह (मिथ्यात्व) की ही महिमा है।

इसप्रकार यह आत्मा देह के साथ रहने के कारण देह में ही अपनापन स्थापित कर लेता है, उसे अपना मानने लगता है और उसके प्रेम में पागल जैसा हो जाता है, उसकी साज संभाल में अपना समय, श्रम और शक्ति बराबर करता रहता है।

अतः सर्वप्रथम इस अशुचि देह और परमपवित्र भगवान आत्मा के बीच भेदविज्ञान करना चाहिए; देह में से अपनापन तोड़ कर निज भगवान आत्मा में अपनापन करना चाहिए।

जिसप्रकार यह भग्वान आत्मा देहहरू में रहते हुए भी देह से भिन्न है; उसीप्रकार इस भगवान आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष के विकारीभाव उत्पन्न होते हैं, उससे भी यह भगवान आत्मा अन्य है, भिन्न है। ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम क्षणिक हैं, विकारी हैं, दुःखरूप हैं, दुःख के कारण हैं, अशुचि हैं, अधूर हैं, विभावभावरूप हैं और यह भगवान आत्मा नित्य है, अविकारी है, सुखरूप है, सुख का कारण है, धूर है, परमपवित्र है और स्वभावभावरूप है। इसप्रकार ये मोह-राग-द्वेष के भाव निज भगवान आत्मा से विचरील स्वभाव बाले हैं, अतः हेय हैं; इन्हें भी निजरूप जानना, मानना और इनमें रहना आत्मा के अकल्यण का कारण है। अतः इनसे भी अपनापन तोड़कर निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना चाहिए।

देहार्दि जड़पदार्थों एवं रागादि विकारीभावों से निज भगवान आत्मा को भिन्न जान लेने के उपार्थ पर्यायमात्र से भिन्नता का विचार करना चाहिए; क्योंकि पर्याय चाहे विकारी हो या अविकारी, होती हो अनित्य ही है, क्षणिक ही है। वह अनन्द-अनन्त भगवान आत्मा का परिचय देने में समय नहीं हो सकती। निर्मल चर्चा ही नई-नई उत्पन्न होती हैं, सादि-सान्त हैं और
भगवान आत्मा तो अनादि का है, कभी नाश को प्राप्त होने वाला नहीं है। अतः क्षणिक निर्मल पर्यायं भी अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं है। उनके आश्रय से नई निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। नई निर्मल पर्याय तो त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती है; अतः आश्रय करने की दृष्टि से, अपनापन स्थापित करने की दृष्टि से तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही उपादेय है।

यद्यपि निर्मल पर्याय प्रगट करने की अपेक्षा से उपादेय कहीं गई है, तथापि आश्रय करने की अपेक्षा से तो हेतु ही है।

देहादि परदार्थ न उपादेय है, न हेतु है, मात्र ज्ञेय है, जानने योग्य है; क्योंकि उनका ग्रहण-त्याग आत्मा के संभव ही नहीं है। किसी भी पर पदार्थ को ग्रहण करना या छोड़ना किसी भी दृष्टि को संभव नहीं है।

देह को तो इस आत्मा ने आज तक ग्रहण ही नहीं किया है, मात्र उसे अपना जाना है, माना है। जब ग्रहण ही नहीं किया तो उसका त्याग भी कैसे हो सकता है; क्योंकि त्याग तो ग्रहण पूर्वक ही होता है। अतः देहादि पर पदार्थ तो मात्र ज्ञेय ही हैं। रागादि विकारी भाव हेतु हैं और निर्मल पर्यायं प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय हैं, पर आश्रय करने की अपेक्षा तो एकमात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही उपादेय है। उसके आश्रय से ही सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायं प्रगट होती है। अतः वहीं परम उपादेय है। उसी की शोध-खोज करने का नाम भेदविज्ञान है।

यद्यपि इस भगवान आत्मा में अनन्त गुण हैं, असंख्य प्रदेश हैं; तथापि उनके लक्ष्य से विकल्प की ही उत्पत्ति होती है; अतः गुणभेद और प्रदेशभेद भी दृष्टि के विषय नहीं हैं। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का विषय तो पर से, पर्याय से, गुणभेद और प्रदेशभेद से भी भिन्न निज भगवान आत्मा ही है, वहीं परम उपादेय है, आराध्य है और आराधना का सार भी वही है।
भगवान की दिव्यध्वनि का सार भी वही भगवान आत्मा है। अतः इन पंचकल्याणकों के अवसर पर इस भगवान आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले विषयों को ही मुख्यता रहना चाहिए; क्योंकि यदि किसी जीव को समायंदर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होगी तो इस भगवान आत्मा के आश्रय से ही होगी और तभी इस पंचकल्याणक को सम्यंदर्शन के निमित्त के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा।

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान श्रीनृष्णभद्र की, आत्मा के उक्त स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली दिव्यध्वनि दिन में तीन-तीन बार खिरती थी और प्रत्येक बार का समय छह घड़ी होता था। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। इसप्रकार कुल मिलाकर ७ घंटे और १२ मिनट प्रतिदिन उनकी दिव्य-देशना होती थी।

विशेष निमित्त मिलने पर कभी-कभी अर्थरात्रि में भी उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, पर वह तो अपवाद ही था। अतः उसकी बात छोड़ भी दें, तो भी ७ घंटे और १२ मिनट तो प्रतिदिन उनका दिव्य उपदेश होता ही था, जिसे सभी श्रोता अत्यन्त रुचिपूर्वक सुनते थे।

ऐसी यह दिव्यध्वनि एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक दिन में तीन-तीन बार खिरती रही और लाखों श्रोता प्रतिदिन लाभ उठाते रहे। यह सम्पूर्ण काल केवलज्ञान कल्याणक का ही काल माना जायेगा, जिसे हम आज एक दिन के रूप में मना रहे हैं। इसमें भी आधा दिन तो आहारदानी की प्रक्रिया में चला गया, जो तपकल्याणक की ही क्रिया थी।

अब आप एक कल्पना कीजिए कि यदि आप भी कोई तीर्थकर हो, उसे केवलज्ञान हो जाये और उसकी दिव्यध्वनि दिन में तीन-तीन बार छह-छह घड़ी खिरने लगे और वह भी आपके ही नगर के समीप; तो क्या आप प्रतिदिन उनकी दिव्यध्वनि श्रवण करने जाओगे?
इसके उत्तर में आप उत्साहपूर्वक कह सकते हैं कि क्यों नहीं जाएंगे, अवश्य जाएंगे। ऐसा मौका कब-कब मिलता है? पर में कहता हूँ कि इतनी जल्दी उत्तर न दीजिए, जरा सोच लोजिए, अच्छी तरह सोच लोजिए, दिन में तीन-तीन बार, प्रत्येक बार छह-छह घड़ी और प्रतिदिन जाने की बात है। अच्छी तरह समझ लीजिए; प्रतिदिन 7 घंटे और 12 मिनट तक शुद्धता संबंधी व्याख्यान सुनने की बात है। शुद्धता की चर्चा सुनने में है इतनी रुचि आपकी; जो सब ध्वं-पानी छोड़कर इस अरस-अरूपी आत्मा की चर्चा में रस लेंगे? बैठा जायेगा लगातार इतना आपसे? यहाँ तो एक घंटे में ही ऊबने लगते हैं, बार-बार घड़ी देखने लगते हैं।

इस पर आप कह सकते हैं कि यहाँ की बात जुदी है और वहाँ की बात जुदी होगी; क्योंकि यहाँ तो आप बोल रहे हैं और वहाँ तो साक्षात्परमात्मा की वाणी होगी; पर सोचने की बात यह है कि भले ही कोई बोले, पर बात तो वही आत्मा की की जा रही है, सर्वजन भगवान की वाणी के अनुसार ही की जा रही है। भले ही हम बोल रहे हों, पर बात हमारी नहीं है, जिनवाणी की है, सर्वजन परमात्मा की है, निज भगवान आत्मा की है। इतनी अरुचि लेकर भगवान आत्मा की बात नहीं सुनी जा सकती। अरुचिपूर्वक सुनने से कुछ भी हाथ नहीं लगता। भले ही साक्षात्परमात्मा से सुने, पर अरुचिपूर्वक सुनने से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। अतः जिनवाणी तो रुचिपूर्वक ही सुनने चाहिए।

एक बात यह भी है कि इस पंचमकाल में साक्षात्परमात्मा तो तुम्हें सुनाने के लिए आने वाले हैं नहीं और तुम अन्य ज्ञानीजों से सुन नहीं सकते; इसका तो सीधा-सच्चा यही अर्थ हुआ कि आपका यह भव यों ही जाना है। अरे भाई, परमात्मा की प्रतीक्षा में समय व्यर्थ मत करों, इस मनुष्य भव का एक-एक क्षण कीमती है, इसमें तो जिस भी ज्ञानी धर्मत्त्व से भगवान आत्मा की बात सुनने को मिले, उसे उसी प्रेमभाव से सुनो, जिस प्रेमभाव से परमात्मा की बात सुनना चाहते हो; क्योंकि बात तो उसी परमात्मा की ही है, तुम्हारे
आत्मा की ही है। यह तो परम सौभाग्य की बात है कि इस विश्वकाल में भी यह उत्कृष्ट बात सुनने को मिल रही है। इसकी उपेक्षा मत करो, अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुनो, तुम्हारा कल्याण अवस्था होगा।

आचार्य पद्मनंदी तो यहाँ तक लिखते हैं कि -

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन देव वार्तापि हि श्रुता।
निषिधतस स भवेदभव्यो भावाविन्यासाभाजनम्।"

जिन्ने निज भगवान आत्मा की बात भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुनी हो, वे निषिधत ही भव्य हैं और वे शीघ्र ही निर्वाण की प्राप्ति करेंगे।"

यह तो महान भाग्य की बात है कि हमें साक्षात् केवल परमात्मा से वीतरागी तत्त्वज्ञान की बात सुनने को मिले, निज भगवान आत्मा की बात सुनने को मिले; पर सभी को सदा यह सौभाग्य कहाँ प्राप्त होता है?

तो क्या सभी अपना कल्याण करने के लिए परमात्मा की साक्षात् वाणी सुनने की प्रतीक्षा करते रहेंगे?

नहीं, कदापि नहीं; परमात्मा की दिव्यध्वनि का सार जहाँ से भी प्राप्त हो, बहाँ से ही प्राप्त कर अपने कल्याण में प्रवृत्ति करना चाहिए। जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त नहीं होने पर हम इन पंचकल्याणकों में प्रतिष्ठित और जिनमंदिरों में विराजमान जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन कर अपना कल्याण करते हैं; उसीप्रकार जिनेन्द्र परमात्मा की वाणी सुनने का साक्षात् अवसर प्राप्त न होने पर उनकी वाणी के अनुसार लिखी गई जिनबाणी का स्वाध्याय कर, उसके विशेषज्ञ वक्ताओं से उसका मर्म सुनकर समझकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए। यही पार्थ है।

ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भी यही सन्देश देते हैं कि तुम्हें यदि तीर्थकर परमात्मा के असली पंचकल्याणक में शामिल होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है तो तुम इन पंचकल्याणकों में रुचिपूर्वक लाभ लेकर अपना कल्याण करो। इसीप्रकार जिनप्रतिमा के दर्शन कर एवं जिनबाणी का
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

स्वाध्याय कर अपना कल्याण करो; क्योंकि इस पंचमकाल में न तो तुम्हें परमात्मा के साक्षात् दर्शन ही मिलने हैं, न दिव्यध्वनि सुनने का ही साक्षात् लाभ प्राप्त होना है और न तीर्थकरों के असली पंचकल्याणकों को देखने का अवसर मिला है। अतः कल्पनालोक में विचरण करना बन्द करके परिस्थिति की नाजुकता को पहचानों, समय बर्बाद न करो; अन्यथा यह जीवन यों ही चला जायगा, कुछ हाथ नहीं आएगा।

सोचो, जरा गंभीरता से सोचो; समय तेजी से जा रहा है। आज केवलज्ञानकल्याणक तो हो ही गया है, कल मोक्षकल्याण हो जायेगा और सब कार्यक्रम समाप्त हो जावेगा। हम सभी का जीवन भी पल-पल कर समाप्त हो रहा है और हम सब प्रतिक्षण मौत की ओर बढ़ रहे हैं, मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। कल भगवान तो यह नश्वर देख छोड़कर विदेह हो जावेंगे, उन्हें तो मुक्ति की प्राप्ति हो जावेगी, उनका तो मोक्ष हो जावेगा; परिपूर्ण कल्याण हो जावेगा, इसप्रकार मोक्षकल्याण हो जायेगा और हम सब चार गति और चौराइसी लाख योगियों में भटकने के लिए फिर अपनी वंही पुरानी राह पर चल निकलेंगे।

यदि हमें अपने इस परिभ्रमण को रोकना है, संसारचक्र को तोड़ना है तो स्वयं के उपयोग को स्वयं में जोड़ना होगा, सम्पूर्ण जगत से नाता तोड़ना होगा और स्वयं को जानकर-पहचान कर स्वयं में ही समा जाना होगा - यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं - यही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है।

इसप्रकार यह संकेष्ठ में केवलज्ञान कल्याणक की चर्चा हुई।

इसमें केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि सर्वज्ञता तो धर्म का निर्मल है, उसके समझे बिना तो धर्म का आरंभ ही संभव नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ की वाणि के आधार पर रचित
साहित्य को ही शास्त्र कहते हैं। सर्वज्ञ का स्वरूप सप्त हुए बिना शास्त्रों का 
मर्म भी समझना संभव न होगा। गुरु भी तो उन्हीं को कहते हैं, जो सर्वज्ञ 
प्रगीत शास्त्रों के अनुसार अपनी श्रद्धा बनाते हैं और उन्हीं के अनुसार जिनका 
आचरण होता है।

अतः यह सुनिश्चित है कि केवलशान का स्वरूप समझे बिना सच्चे देव-
शास्त्र-गुरु का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु 
का स्वरूप समझे बिना व्यवहार सम्पर्क भी न होगा।

अतः केवलशान का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है।

अब कल मोक्षकल्याणक की चर्चा होगी।

---

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य 
की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके 
विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जनसंपर्क जरूरी है। सत्य की प्राप्ति 
व्यक्तिगत किया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की 
प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए 
जन-जन तक पहुंचना।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व दृष्टि होते हैं। जहाँ एक और वे 
आत्म-तत्त्व की प्राप्ति और तत्त्वीति के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति बाले 
होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुंचाने के विकल्प से भी वे 
अलिप्त नहीं रह पाते हैं।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जनसामान्य की समझ 
नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील 
हो उठते हैं।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे 
स्वयं उद्देश्य स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्तिक 
होता है कि जगत-जन को वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती।

- सत्य की खोज, पृष्ठ १४२
आठवाँ दिन

मोक्षकल्याणक

आज मोक्षकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का आठवाँ दिन और पंचकल्याणक का पाँचवा दिन। आदिनाथ भगवान का मोक्ष कैलाश पर्वत से हुआ था। अतः यहाँ यह कैलाश पर्वत का दृश्य बनाया गया है। कैलाश पर्वत हिमालय के ही किसी भाग का नाम है। इसीकारण यह पर्वत बर्फीला बनाया गया है।

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खानपान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है।

अबतक उनकी दिव्यध्वनि का लाभ सभी को प्राप्त हो रहा था। अब सभी भक्तजन इस लाभ से बंचित हो गये हैं। हम उन अयोध्यावासियों को कल्पना करें, जो लोग अबतक भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि प्रतिदिन सात-सात घंटे सुनते थे, पर आज सब अनाथ से हो गये हैं। उनकी मन:स्थिति में अपने को रखकर हम देखें तो हमें यह आभास हो सकता है कि निर्वाणमहोत्सव का क्या रूप होना चाहिए?

आज का दिन गंभीर चिन्तन का दिन है, अपने पैरों पर खड़े होने का दिन है। अबतक जो कुछ भी सुना है, समझा है; उसे जीवन में उतारने के संकल्प करने का दिन है।

मोक्ष माने मुक्त होना। दुःखों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनन्दमय अतीतद्रिय दशा है। अबाधित अनंत-आनन्दमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष को प्राप्ति की
विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जम्म, तप आदि कल्याणस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँछक होने के कारण ही हम सब मुमुशु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्माराधणा इस मुक्त की प्राप्ति हेतु ही होती है।

मुक्ति प्राप्त हो गई, इसकारण ऋषभदेव की सर्व धर्माराधना आज सफल हो गई है। उन्होंने पुरुषार्थ का अन्तिम फल प्राप्त कर लिया है। चार पुरुषार्थों में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष ही है, उसे प्राप्त कर लेने से उनकी सम्पूर्ण साधना सफल हो गई है। इसी का यह महोत्सव है।

उनकी साधना तो सफल हो गई, पर अभी हमारी और आपकी साधना बहुत शेष है। कुछ लोगों ने तो अभी यह आरंभ ही नहीं की है। कम से कम इस महोत्सव में आने के फलस्वरूप हमें यह साधना आरंभ करने का संकल्प तो करना ही चाहिए। इस बहुमूल्य मनुष्यभव के जो क्षण शेष बचे हैं, उनके सदुपयोग के लिए कुछ समयव्याप्त कार्यक्रम तो चुनिन्दित करना ही चाहिए। यदि ऐसे अवसर पर ही हम कुछ संकल्प न कर सकें तो फिर कौनसा अवसर आएगा, जो हमें आगृह कर सकेगा, प्रेरित कर सकेगा?

अब हमारा यह महोत्सव समापन की ओर जा रहा है। जो जिन्तगितमाएँ यहाँ प्रतिष्ठित होने आई थीं, वे सब प्रतिष्ठित हो चुकी हैं, भगवान बन चुकी हैं। अब वे प्रतिदिन साक्षात् भरहंदेव के समान ही पूजी जावेंगी। हजारों वर्ष तक भव्य जीव उनके दर्शन-पूजन से सतीश्य पुण्य उपार्जित करेंगे।

हम सब भी लौटकर अपने-अपने घर जाने की तैयारी में है। अब यह स्वर्य के अन्तर निरीक्षण का समय है। हम स्वर्य अपने अन्तर को परखें और इस बात को सुनिश्चित करें कि हम में भी कुछ अन्तर आया है या नहीं, हमारी परिणति भी कुछ निर्मल हुई है या नहीं?

हम दूसरे को धोखा दे सकते हैं, पर स्वर्य को नहीं। हमारा हदय हमें स्पष्ट बतायेगा कि यहाँ आकर हमने कुछ पाया है या नहीं या फिर जैसे आये थे, वैसे ही वापस जा रहे हैं?
एक बार इस ओर भी देख लें कि कहीं ऐसा तो नहीं हो गया है कि हम यहाँ से भी कुछ नया राग-घेरा लेकर जा रहे हों; क्योंकि ‘परदेश कलेश नरेशन को’ की सुविधा के अनुसार आपको कुछ न कुछ असुविधा तो अवश्य हुई होगी। घर जैसी सुविधा इन मेलों-ठेलों में कहाँ संभव है? हो सकता है आपकी किसी से गर्मागर्मी भी हो गई हो, कहा-सुनी भी हो गई हो; हाथापाई होने की कल्पना करना तो मुझे उचित प्रतीत नहीं होता, पर आपकी गलती से नहीं, किसी और की गलती से ऐसा कुछ हो गया हो तो क्या आप यहाँ से वैर-विरोध लेकर अपने घर जायेंगे?

सोचिए जरा, अच्छी तरह सोचिए; क्या आप इसीलिए यहाँ आये थे कि यहाँ से दो-चार नये शनु बनाकर ले जायेंगे? शनुओं की कमी तो आपके आस-पास भी न होगी, यहाँ से तो कुछ पवित्र संकल्प लेकर जाइये, प्रतिदिन स्वाभाविक करने का संकल्प लेकर जाइये, प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन करने का संकल्प लेकर जाइये; संयमी नहीं तो कुछ सदाचारी बन कर जाइये-यह वह निधि होगी जो भव-भव में आपके काम आयेगी, भव का अभाव करने के काम आयेगी। यदि भव-भव में न भटकना हो तो यही एक मार्ग है।

यदि आप शोधा भी अन्तर में झांकेंगे तो यह भी समझ में आ जायेगा कि आपने यहाँ आकर अकेले पंचकल्याणक के दृश्य ही नहीं देखे हैं, अकेले प्रवचन ही नहीं सुने हैं; कार्यक्रमों और प्रवचनों से बीच-बीच में गोल होकर बाजारों के चक्कर भी लगाये हैं और अनेक प्रकार की खरीदारी भी की है; पर जरा ध्यान से देख लीजिए कि वह सब भोगसामग्री ही है न? वह हमारे विषय-कषय के पोषण में ही काम आयेगी न?

क्या आप इसी को खूरी कर यहाँ आये थे? क्या आप अपने पर जाकर घरवालों को, मिलनेवालों को, मित्रों को, रिस्तेदारों को यही सब प्रसादी के रूप में देंगे और यही सुनायेंगे सबको कि व्यवस्था में क्या-क्या गड्ढाहटी थी और आपका किस-किस से लड़ाई-झगड़ा हुआ, आपने कैसी-कैसी खरी-खोटी सुनाई या फिर क्या-क्या देखा है नगर में, जाजार में या यहाँ-वहाँ?
क्या आप कुछ ऐसा भी ले जा रहे हैं, जो भगवान के पंचकल्याणकों में से ले जाना चाहिए; जिससे आपके परिवार वाले भी पंचकल्याणक का लाभ ले सकें, रिस्तेदार, मित्रगण और मिलनेवाले भी पंचकल्याणक का लाभ ले सकें?

क्या आप कुछ ऐसा समझकर भी जा रहे हैं, सीखकर भी जा रहे हैं; जो अपने परिवारवालों को, मित्रों को, मिलनेवालों को व रिस्तेदारों को समझ सकें, सिखा सकें और उन्हें भी आत्मकल्याण करने के लिए प्रेरित कर सकें?

अन्तर से उठे इन प्रश्नों का उत्तर यदि ‘हाँ’ में आवे तो हम आपको धन्यवाद देना चाहेंगे और यदि ‘ना’ में आवे तो हम एक सलाह देना चाहेंगे कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, अभी आप निकल थोड़े ही गये हैं, अभी तो आप यहाँ हैं और प्रवचन सुन रहे हैं; अतः आप अब भी चेत सकते हैं और कुछ ऐसा ले जाने को सोच सकते हैं कि जो आत्मकल्याण का सीधा निमित्त हो।

यदि आप इस संदर्भ में मेरा सहयोग चाहें, मेरी सलाह चाहें तो मैं आपसे कहूँगा कि जो बात भगवान की दिव्यधारन में आई है, उसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों को ले जायें, जिनवाणी माता को ले जायें; यदि आपके बिद्वानों के प्रवचन अच्छे लगे हों तो, उनके कैसेट ले जायें और अपने रिस्तेदारों को दीजिए, मित्रों को दीजिए, मिलनेवालों को दीजिए और परिवारवालों को भी दीजिए; जिससे जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रवचनों के सुनने का लाभ वे भी उठा सकें, अपना जीवन सुधारने के लिए वे कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकें, वे भी अपना भावी जीवन सुधारने की कुछ योजना बना सकें।

आप अपने मित्रों, रिस्तेदारों, मिलनेवालों और घरवालों को देने के लिए कुछ न कुछ ले तो अवश्य जायंगे; पर जरा सोचिए कि यदि आप ऐसी कोई बस्तू ले गये, जो उनके देनिक भोगोपभोग के काम आवे तो उनके उस भोगोपभोग के पाप के कुछ हिस्से दर आप भी न बनेंगे क्या?
मान लीजिए कि आप उनके लिए जूते-चपपल ले गये तो वे प्रतिदिन उनके पैरों की थोकर खायेंगे; यदि आप पीकदान ले गये तो आपके पीकदान को प्रतिदिन उनके थूकने को झेलना होगा। इसीप्रकार आप और भी कल्पना कर सकते हैं। पर यदि आपने उन्हें शास्त्र भेंट किये तो उनके स्वाध्याय के अतिरिक्त और वे कर ही क्या सकते हैं, यदि प्रवचनों के कैसेट ले गये तो उन्हें सुनने के अतिरिक्त वे क्या कर सकेंगे? यदि उन्होंने शास्त्रों का स्वाध्याय किया, कैसेट सुने तो आपकी दी हुई भेंट उनके ज्ञानवृद्धि में निमित्त बनेगी।

मैं तो कहता हूँ कि किसी भी अवसर पर किसी को कुछ भेंट देना हो तो जिनवाणी ही देना चाहिए, हम किसी के भोगों में निमित्त क्यों बने? हमें तो उसके स्वाध्याय में निमित्त बनना चाहिए; क्योंकि यदि आप नहीं देंगे तो भी वे भोगसामग्री तो स्वयं भी खरीदेंगे, पर शास्त्र शायद ही खरीदें; अतः जिनवाणी देना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी यदि आप प्रत्येक अवसर पर इसप्रकार की भेंट देने में असमर्थ हों तो भी इस अवसर पर तो भोगसामग्री देना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है। इस अवसर पर तो ज्ञानसामग्री ही ही मानी चाहिए। आप सोच लीजिए, अच्छी तरह सोच लीजिए; जल्दी कोई बात नहीं है, हड़बड़ी को भी कोई बात नहीं है। शान्ति से, गंभीरता से सोच-विचार कर निर्णय लीजिए।

हाँ, एक बात जो आपसे पहले भी कही थी कि आप अपने घर जाकर यहाँ के जो अनुभव सुनावेंगे, उनके बारे में भी कुछ विचार कर लेना जरूरी है।

व्यवस्थागत कमजोरी के कारण आपको जो परेशानी हुई है, उसे बढ़ाचढ़ाकर सुनाकर आप क्या भला करेंगे अपने मित्रों का, बच्चों का; क्योंकि उसे सुनकर तो वे यही संकल्प करेंगे कि हम तो ऐसे पंचकल्याणकों में कभी नहीं जावेंगे। बस आप यहीं चाहते हैं कि आपके परिवार वाले, मित्र और रिश्तेदार धार्मिक कार्यों में शामिल ही न हो, नित्य पाप के कार्यों में ही लिप्त रहें? नहीं तो फिर उन साधारण परेशानियों को बढ़ाचढ़ाकर कहकर
आप क्या करना चाहते हैं? न सही बढ़ाचढ़ाकर पर, आप सुनाना ही क्यों चाहते हैं, उससे आपको क्या लाभ नजर आता है?

आपको जो आध्यात्मिक लाभ मिला है, जो कुछ अच्छा दिखाई दिया है; यदि उसे रस ले-लेकर सुनायेंगे तो भविष्य में इसप्रकार के कार्यक्रमों में भाग लेने की प्रेरणा उन्हें भी मिलेगी और आपका उपयोग भी निर्मल रहेगा।

इस जगत में बुराईयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती है; पर बुराईयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयों फैलती हैं और बुराईयों की चर्चा करने से बुराईयों फैलती हैं। अतः यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयों फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती है, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले।

आप यहाँ से जब वापिस जायेंगे और घर पहुँचेंगे, तब आपका जो व्यवहार होगा, जीवन होगा; चित की जैसी वृत्ति होगी, प्रवृत्ति होगी; उसी को देखकर घरवाले, परिवारवाले, मुहल्लेवाले यह निर्णय करेंगे कि पंचक्लीणक प्रतिष्ठाओं में जाने के क्या लाभ है और क्या हानि है?

अतः अपने व्यवहार को सुधारने का उत्तराधिकार आज हम सबके कंबों पर है; क्योंकि न केवल हमारा भविष्य ही इस पर निर्भर करेगा, अपितु हमारी भावी पीढ़ियों का भविष्य भी इससे जुड़ा हुआ है। यदि हम चाहते हैं कि हमारी भावी पीढ़ियों में भी धार्मिक संस्कार रहें तो हमें अपने जीवन को समयमित करना होगा, सुव्यवस्थित करना होगा; क्योंकि भावी पीढ़ी जितने पूर्वजों के आचार-व्यवहार को देखकर सीखती है, कहने-सुनने मात्र से उसका शतांश भी उनके जीवन में नहीं आता।

मैंने आरंभ के दिनों में ही आपसे कहा था कि आप जब यहाँ से वापिस जायेंगे तो कुछ शान्त होकर जायेंगे, सदाचारी होकर जायेंगे, स्वाभाविक का संकल्प लेकर जायेंगे, जगत से निवृत्ति और आत्मा में प्रवृत्ति का संकल्प लेकर जायेंगे।
मात्र दूसरे के कल्याण के लिए नहीं, मूलतः तो यह सब अपने कल्याण के लिए करना है। हमारे शुद्ध-सात्त्विक जीवन को देखकर यदि दूसरे भी कल्याण के मार्ग पर लग जावै तो बहुत अच्छी बात है; यदि न भी लगें, न दूसरों से क्या लेना-देना है? पर के कल्याण के विकल्प में भी अधिक उत्तर अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

अब अपना जीवन भी कितना शेष है? यह बहुमूल्य मानव जीवन यों ही जा रहा है। जो जी लिया, सो जी लिया; पर भविष्य की क्या गारंटी है? हो सकता है दश-बीस वर्ष और भी जी जावे, पर यह भी तो हो सकता है कि अगले क्षण ही यह क्षणभंगुर जीवन समाप्त हो जावे। अतः एक-एक क्षण कीमती है।

कुछ नई उम्र के लोग सोच सकते हैं कि हम तो अभी बालक ही हैं, युवक ही हैं; हमें तो अभी बहुत जीना है। पर भारी, इस मानव जीवन में युवकों की आयु का भी क्या भरोसा है? आज के संयोगों में तो यह अस्थिरता भी अधिक बढ़ गई लगती है। अतः बूढ़े-बच्चों, युवक-युवतियों सभा को आत्मकल्याण के कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।

इन पंचकल्याणकों जैसे पावन अवसरों से भी यदि हम कुछ न सीख सके तो फिर ऐसे कौन से अवसर आयेंगे, जो हमें आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर करेंगे? अधिक क्या कहें, जिनके संसार-सागर का किसान समीप आ गया होगा, वे इसने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होने वाला नहीं। अतः अधिक प्रलाप से क्या लाभ है।

सभी आत्मार्ध्यजन इस पंचकल्याणक प्रसंग से अपने कल्याण का प्रश्न करें - इस मंगल भावना से इस पंचकल्याणक कथा से चिंता लेता हूँ।